विवेक-ज्योति
वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००
वर्ष ४६ अंक ७ जुलाई २००८
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ।।
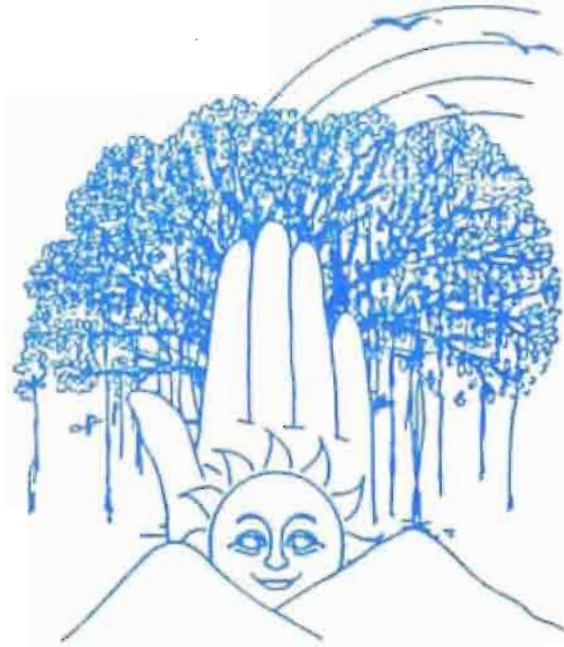
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक ७

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए – रु. ४००/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४६ जुलाई २००८ अंक ७

विवेक-चूडामणि

- श्री शंकराचार्य

साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः ।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिध्यति ।।१८।।

अन्वय – अत्र चत्वारि साधनानि मनीषिभिः कथितानि । येषु सत्सु एव सन्-निष्ठा, यत्-अभावे न सिद्ध्यति ।

अर्थ – इस ब्रह्मविद्या की सिद्धि में मनीषियों ने चार साधनाओं की आवश्यकता बतायी है। इनके होने से ही ब्रह्म-वस्तु में निष्ठा सधती है, इनके अभाव में नहीं सधती।

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।
इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ।
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ।।१९।।

अन्वय - आदौ नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकः परिगण्यते। तद्-अनन्तरम् इह-अमुत्र-फलभोग-विरागः (परिगण्यते। तृतीयं चतुर्थं) शमादि-षट्क-सम्पत्तिः (तथा) मुमुक्षुत्वम् इति स्फुटम्।

अर्थ – नित्य-अनित्य वस्तु के बीच विवेक को पहला साधन माना जाता है। इसके बाद इहलोक तथा परलोक में भोगे जानेवाले कर्मफलों के प्रति वैराग्य की गणना होती है। तीसरा साधन है – शम आदि षट्सम्पत्तियाँ और चौथा है मुमुक्षा अर्थात् मुक्त होने की इच्छा। यह स्पष्ट है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः ।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः।।२०।।

अन्वय - ब्रह्म (एव) सत्यम् जगत् मिथ्या इति एवंरूपः विनिश्चयः स अयं नित्य-अनित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ।

अर्थ – ब्रह्म ही सत्य वस्तु और जगत् मिथ्या है, ऐसा दृढ़ निश्चय ही नित्यानित्य-वस्तु-विवेक कहलाता है।

तद्वैराग्यं जिहासा या दर्शनश्रवणादिभिः ।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ।।२१।।

अन्वय – देह-आदि-ब्रह्म-पर्यन्ते हि अनित्ये भोग-वस्तुनि दर्शनश्रवणादिभिः या जिहासा तत् वैराग्यं (उच्यते) ।

अर्थ – इस लोक के देहादि भोगों से लेकर ब्रह्मलोक के अनित्य भोग्य वस्तुओं को देखने, सुनने आदि को त्यागने की इच्छा को वैराग्य करते हैं।

विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ।।२२।।

अन्वय - विषयव्रातात् मुहुर्मुहुः दोषदृष्ट्या विरज्य मनसः स्वलक्ष्ये नियत-अवस्था शमः उच्यते।

अर्थ – प्रतिक्षण विषयों का दोष देखते हुए (वैराग्य द्वारा) उन्हें त्यागकर अपने लक्ष्य (ब्रह्म) से मन को लगाये रखने को 'शम' करते हैं। (यह छह सम्पत्तियों में पहला है)।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः ।
बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ।।२३।।

अन्वय - उभयेषाम् इन्द्रियाणां (पंचज्ञानेन्द्रिय पंच-कर्मेन्द्रिय च) विषयेभ्यः परावर्त्य स्वस्वगोलके स्थापनं, सः दमः परि-कीर्तितः । वृत्तेः बाह्य-अनालंबनं एषा उत्तमा उपरतिः (उच्यते) ।

अर्थ – पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँचों कर्मेन्द्रियों को विषयों से खींचकर उनके अपने-अपने गोलकों में स्थापन 'दम' कहलाता है। मन की वृत्तियों को बाह्य वस्तुओं से प्रभावित न होने देना उत्तम 'उपरति' माना जाता है।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(कलावती–कहरवा)

जय जय रामकृष्ण भगवान।
सारे जग में गूँज रहा तव, पावन महिमा-गान ।।

इस कलियुग के कलुष मिटाने,
जग-जन को सन्मार्ग दिखाने, आये कृपानिधान ।।

त्याग दिखाकर धर्म सिखाकर,
सबमें श्रद्धा-भक्ति जगाकर, फैलाया प्रज्ञान ।।

वचनामृत का कर आस्वादन,
शंकामुक्त हुआ सबका मन, धन्य हो गये प्राण ।।

त्रिविध ताप से दग्ध सदा हम,
नाम तुम्हारा मधुर सुधा सम, करते निशिदिन पान ।।

हमको यह वर दो जगदीश्वर,
आत्मबोध सब की सेवा में, हों 'विदेह' बलिदान ।।

– २ –

(मिश्र-भैरवी–कहरवा)

हमारे रामकृष्ण सुखधाम ।
चिन्मय सुन्दर नरकाया धर, रूप अनूप ललाम ।।

मन-वाणी से अगम अगोचर, व्याप रहे वे सर्व चराचर,
सबके अन्तर बैठ चलाते, जग के सारे काम ।।

आधि-व्याधि में जनम-मरण में,
द्वन्द्व-दोषमय इस जीवन में,
घोर हताशाओं के क्षण में, देते हैं बिसराम ।।

ले अन्तर में सुख की आशा,
भटक न तू अब मरु में प्यासा,
सब के दुख-अज्ञान मिटाने, आये कृपानिधान ।।

दीनबन्धु सहृदय करुणामय,
करते सबको शुद्ध अनामय,
चरणों में अर्पित 'विदेह' के, कोटि सभक्ति प्रणाम ।।

समाज-सुधार और राष्ट्र-निर्माण

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

भय इस बात का है कि इस पाश्चात्य भाव-तरंग में चिर काल से अर्जित कहीं हमारे अमूल्य रत्न तो न बह जायेंगे? और उस प्रबल भँवर में पड़कर भारत भूमि भी कहीं ऐहिक सुख प्राप्त करने की रण-भूमि में तो न बदल जायगी? असाध्य, असम्भव एवं जड़ से उखाड़ देने वाले विदेशी ढंग का अनुकरण करने से हमारी 'न घर के न घाट के' जैसी दशा तो न हो जायगी – और हम 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' के उदाहरण तो न बन जायेंगे?

इसलिये हमें अपने घर की सम्पदा सर्वदा सम्मुख रखनी होगी और ऐसी चेष्टा करनी होगी, जिससे जन-साधारण तक अपने पैतृक धन को सर्वदा देख और जान सकें और इसी के साथ-साथ बाहर से प्रकाश प्राप्त करने के लिये हमको निर्भीक होकर अपने घर के सारे द्वार खोल देने होंगे। संसार के चारों ओर से प्रकाश की किरणें आयें, पश्चिम का तीव्र प्रकाश भी आये ! जो दुर्बल, दोषयुक्त है, उसका नाश होगा ही, उसे रखकर क्या लाभ? जो वीर्यवान, बलप्रद है, वह अविनाशी है; उसका नाश कौन कर सकता है?[४३]

अब प्रश्न यह है कि हमें भी संसार से कुछ सीखना है या नहीं? शायद दूसरी जातियों से हमें भौतिक विज्ञान सीखना पड़े। किस तरह संगठन और उसका परिचालन हो, विभिन्न शक्तियों को नियमानुसार काम में लगाकर कैसे थोड़े यत्न से अधिक लाभ हो आदि बातें हमें अवश्य दूसरों से सीखनी होगी। पाश्चात्यों से हमें शायद ये सब बातें कुछ-कुछ सीखनी ही होंगी। पर स्मरण रखना होगा कि हमारा उद्देश्य त्याग ही है। यदि कोई भोग और ऐहिक सुख को ही परम पुरुषार्थ मानकर भारत में उनका प्रचार करना चाहे, यदि कोई जड़-जगत् को ही भारतवासियों का ईश्वर कहने की धृष्टता करे, तो वह मिथ्यावादी है। इस पवित्र भारतभूमि में उसके लिये कोई स्थान नहीं है, भारतवासी उसकी बात नहीं सुनेंगे।[४४]

जानते हो, मेरा मत क्या है? हम वेदान्त धर्म के गूढ़ रहस्यों का पाश्चात्य जगत् में प्रचार करके उन महा शक्तिशाली राष्ट्रों की श्रद्धा और सहानुभूति प्राप्त करेंगे और आध्यात्मिक विषयों में सदा उनके गुरुस्थानीय बने रहेंगे। दूसरी ओर अन्य ऐहिक विषयों में वे हमारे गुरु बने रहेंगे। जिस दिन भारतवासी धर्म-शिक्षा के लिये पाश्चात्यों के पीछे चलेंगे, उसी दिन इस अध:पतित जाति का जातित्व सदा के लिये नष्ट हो जायेगा। "हमें यह दे दो, वह दे दो" – ऐसे आन्दोलन से सफलता नहीं मिलेगी। वरन् उपर्युक्त आदान-प्रदान के फलस्वरूप जब दोनों पक्षों में पारस्परिक श्रद्धा और सहानुभूति का आकर्षण पैदा होगा, तो अधिक चिल्लाने की जरूरत ही नहीं रहेगी। वे स्वयं हमारे लिये सब कुछ कर देंगे। मेरा विश्वास है कि वेदान्त की चर्चा और वेदान्त का सर्वत्र प्रचार होने से हमारा तथा उनका दोनों का ही विशेष लाभ होगा। इसके सामने राजनीतिक चर्चा मेरी समझ में निम्न स्तर का उपाय है। अपने इस विश्वास को कार्य में परिणत करने के लिये मैं अपने प्राण तक दे दूँगा। यदि तुम समझते हो कि किसी दूसरे उपाय से भारत का कल्याण होगा, तो उसी उपाय को अपना कर आगे बढ़ते जाओ।[४५]

भारत को यूरोप से बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीखना है और यूरोप को भारत से अन्त:प्रकृति की विजय सीखनी होगी। तब न हिन्दू होंगे न यूरोपियन, होगी आदर्श मानव-जाति, जिसने बाह्य और अन्त:, दोनों प्रकृतियों को जीत लिया होगा। हमने मानव-जाति के एक पहलू का विकास किया है, तो उन्होंने दूसरे का। चाहिये यह कि दोनों का मेल हो।[४६]

भारतीय परम्पराओं में ही नये भारत का गठन

सुधारकों से मैं कहूँगा कि मैं उनसे कहीं बढ़कर सुधारक हूँ। वे लोग केवल इधर-उधर थोड़ा-सा सुधार चाहते हैं और मैं चाहता हूँ आमूल सुधार। हम लोगों का मतभेद है केवल सुधार की प्रणाली में। उनकी प्रणाली विनाशात्मक है और मेरी रचनात्मक। मैं सुधार में नहीं, स्वाभाविक उन्नति में विश्वास करता हूँ। मैं अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर अपने समाज के लोगों के सिर पर यह उपदेश मढ़ने का साहस नहीं कर सकता कि 'तुम्हें इसी भाँति चलना होगा, दूसरी तरह नहीं।' मैं तो सिर्फ उस गिलहरी की तरह होना चाहता हूँ, जो राम के सेतु बाँधने के समय अपने योगदान स्वरूप थोड़ा बालू लाकर सन्तुष्ट हो गयी थी।... यह अद्भुत राष्ट्र-जीवनरूपी यंत्र युग-युग से कार्य करता आया है, राष्ट्रीय जीवन का यह अद्भुत प्रवाह हम लोगों के सम्मुख बह रहा

है। कौन जानता है, कौन साहसपूर्वक कह सकता है कि यह अच्छा है या बुरा, और यह किस प्रकार चलेगा?... राष्ट्रीय जीवन को जिस ईंधन की जरूरत है, देते जाओ, बस वह अपने ढंग से उन्नति करता जायेगा; कोई उसकी उन्नति का मार्ग निर्दिष्ट नहीं कर सकता। हमारे समाज में अनेक बुराइयाँ हैं, पर ऐसी बुराइयाँ तो दूसरे समाजों में भी हैं।... दोषारोपण या निन्दा करने की क्या जरूरत? ... बुराई तो हर कोई दिखा सकता है। मानव का सच्चा हितैषी तो वह है, जो इन कठिनाइयों से बाहर निकलने का उपाय बताये।

क्या भारत में कभी सुधारकों का अभाव था? क्या तुमने भारत का इतिहास पढ़ा है? रामानुज, शंकर, नानक, चैतन्य, कबीर और दादू कौन थे? ये सब बड़े-बड़े धर्माचार्य कौन थे, जो भारत-गगन में अति उज्जवल नक्षत्रों की तरह एक-एक कर उदित हुए थे?... इन सबने प्रयत्न किया और उनका काम आज भी जारी है। भेद केवल इतना है कि वे आज के सुधारकों की तरह दम्भी नहीं थे; वे इनके जैसे अपने मुँह से कभी अभिशाप नहीं उगलते थे। उनके मुँह से मात्र आशीर्वाद ही निकलता था। उन्होंने कभी भर्त्सना नहीं की।... उन्होंने यह नहीं कहा, ''पहले तुम दुष्ट थे, और अब तुम्हें अच्छा होना होगा।'' उन्होंने यही कहा, ''पहले तुम अच्छे थे, अब और भी अच्छे बनो।'' इससे जमीन-आसमान का फर्क पैदा हो जाता है। हमें अपने स्वभाव के अनुसार उन्नति करनी होगी। विदेशी संस्थाओं ने बलपूर्वक जिस कृत्रिम प्रणाली को हममें प्रचलित करने की चेष्टा की है, उसके अनुसार काम करना वृथा है। वह असम्भव है। जय हो प्रभु! हम लोगों को तोड़-मरोड़कर नये सिरे से दूसरे राष्ट्रों के ढाँचे में गढ़ना असम्भव है। मैं दूसरी कौमों की सामाजिक प्रथाओं की निन्दा नहीं करता। वे उनके लिये अच्छी है, पर हमारे लिये नहीं। उनके लिये जो कुछ अमृत है, वही हमारे लिये विष हो सकता है। पहले यही बात सीखनी है। अन्य प्रकार के विज्ञान, अन्य प्रकार के परम्परागत संस्कार और अन्य प्रकार के आचारों से उनकी वर्तमान सामाजिक प्रथा गठित हुई है। पर हमारे पीछे हमारे अपने परम्परागत संस्कार और हजारों वर्षों के कर्म हैं। अत: हमें स्वभावत: अपने संस्कारों के अनुसार ही चलना होगा और यह हमें करना ही होगा।[४७]

चाहिये सच्चे देशभक्तों की एक टोली

मैंने जापान में सुना कि वहाँ की लड़कियों का विश्वास है कि यदि उनकी गुड़ियों को हृदय से प्यार किया जाय, तो वे जीवित हो उठेंगी। जापानी बालिका अपनी गुड़िया को कभी नहीं तोड़ती।... मेरा भी विश्वास है कि यदि हतश्री, अभागे, निर्बुद्धि, पददलित, चिर बुभुक्षित, झगड़ालू और ईर्ष्यालु भारतवासियों को भी कोई हृदय से प्यार करने लगे तो भारत पुन: जाग्रत हो जायेगा। भारत तभी जागेगा, जब विशाल हृदयवाले सैकड़ों स्त्री-पुरुष भोग-विलास और सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर मन, वचन और शरीर से उन करोड़ों भारतीयों के हित के लिये सचेष्ट होंगे जो दरिद्रता तथा मूर्खता के अगाध सागर में निरन्तर डूबते जा रहे हैं।[४८]

देशभक्त बनो, जिस राष्ट्र ने अतीत में हमारे लिये इतने बड़े-बड़े काम किये हैं, उसे प्राणों से भी प्यारा समझो।[४९]

ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम अनुभव करो, हृदय से अनुभव करो। क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देवों तथा ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशु-तुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों लोग आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुम्हारी निद्रा छीन ली है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती हैं? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन में मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है?... यदि 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है। ... माना कि तुम अनुभव करते हो; पर पूछता हूँ, क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्ति क्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिये तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित किया है? क्या लोगों की भर्त्सना न कर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत दशा से बाहर निकालने के लिये कोई मार्ग ठीक किया है? क्या उनके दु:खों को कम करने के लिये दो सान्त्वनादायक शब्दों को खोजा है? यही दूसरी बात है। ... पर इतने ही से पूरा न होगा। क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिये तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे पुत्र-कलत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जाय, नाम की कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में लगे रहोगे? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहोगे। ... क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? बस यही तीसरी बात है। यदि तुममें ये तीन बातें हैं, तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है।[५०] ❖ **(क्रमश:)** ❖

सन्दर्भ-सूची – ४३. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९), खण्ड १०, पृ. १३७; **४४.** वही, खण्ड ५, पृ. ४५-४६; **४५.** वही, खण्ड ६, पृ. ९-१०; **४६.** वही, खण्ड ४, पृ. २५५; **४७.** वही, खण्ड ५, पृ. १०९-१४; **४८.** वही, खण्ड ६, पृ. ३०७; **४९.** वही, खण्ड ५, पृ. ९५; **५०.** वही, खण्ड ५, पृ. १२०-२१

श्री हनुमत्-चरित्र (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

अतुलित-बलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकुशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकल-गुण-निधानं वानराणामधीशं
रघुपति-प्रियभक्त वातजातं नमामि ।। ५/३

– जो अतुल बल के धाम हैं, जो सोने के सुमेरु पर्वत की भाँति तेज से युक्त हैं, जो दैत्यरूपी वन को ध्वंश करने के लिये अग्निरूप हैं, जो ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं, जो सारे गुणों के निधान हैं, जो वानरों के मुखिया हैं, जो श्रीराम के प्रिय भक्त हैं, ऐसे पवनपुत्र हनुमानजी को मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीरामकृष्ण आश्रम के इस पवित्र प्रांगण में हनुमानजी के पावन चरित्र की यह चर्चा चल रही है। कल की जो कथा थी, वह निश्चित रूप से कुछ अधिक गम्भीर थी, किन्तु मुझे विश्वास है कि आप उस प्रसंग की कड़ी को आज के प्रसंग से जोड़ लेंगे और जो कुछ आपके सामने रखा जा रहा है, उसे पूरी एकाग्रता से सुनने की चेष्टा करेंगे।

सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में जब गोस्वामीजी ने श्री हनुमानजी की वन्दना की, तो वे उनके गुणों का स्मरण करते समय पहला शब्द उन्होंने लिखा – **अतुलितबलधामम्** – हनुमानजी का जो बल है, उसे तौला नहीं जा सकता, वे अतुलित बल के धाम हैं। प्राचीन काल में किसी व्यक्ति में बल के विषय में चर्चा करनी हो, तो उसके लिये हाथी को मापदण्ड बनाया जाता था। किसी बहुत बड़े योद्धा के विषय में यह बताते थे कि उसमें इतने हाथियों का बल था। महाभारत के महारथी महान् योद्धा भीम के विषय में यह बताया गया कि उनमें दस हजार हाथियों का बल था। अन्य कई योद्धाओं के बल का भी इसी प्रकार वर्णन किया गया है।

रामायण काल में तो युग की धारणा के अनुसार बल का मापदण्ड और भी बड़ा था। पूछा गया कि हनुमानजी में कितना बल है? गोस्वामीजी ने तो बस एक शब्द कहकर छुट्टी पा ली कि वस्तु को तौलने के लिये, उसकी माप बताने के लिये तराजू चाहिये, परन्तु हनुमानजी के बल के विषय में तो कहना पड़ेगा कि उनका बल तो आज तक तौला ही नहीं जा सका। वे अतुलित बल के धाम हैं। वैसे 'हनुमानाष्टक' स्तोत्र में उनके बल के बारे में एक बड़ा विचित्र संकेत किया गया है। आप जानते होंगे कि इन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत है। ऐरावत के विषय में यह मान्यता है कि उस हाथी में दस हजार हाथियों का बल है। फिर बताया गया कि दस हजार ऐरावत हाथियों का बल इन्द्र में हैं। इसके बाद कहा गया कि दस हजार इन्द्रों का जो बल है वह हनुमानजी की कनिष्ठिका अंगुली में है। अब तो बड़ी विचित्र स्थिति है। कैसे तौला जाय? जब दस हजार इन्द्रों का बल उनकी कनिष्ठा में हो, तो फिर यही तो मानना पड़ेगा कि उनमें अतुलित बल है।

इसके बाद वे क्रमश: हनुमानजी के अन्य गुणों को गिनाते हुये बताने लगे कि जिनका शरीर दिव्य सोने के रंग का है, वे 'हेमशैल' जैसा प्रतीत होते हैं। फिर बोले कि जो राक्षसों को जलाने के लिये अग्नि के समान हैं। फिर यह कहा गया कि वे महान् कर्मयोगी ही नहीं, अपितु ज्ञानियों में भी अग्रगण्य हैं, क्योंकि संसार में देखा जाता है कि जो बहुत ज्ञानवान होते हैं, वे बहुधा कर्म से दूर चले जाते हैं और कर्म को महत्त्व ही नहीं देते, कर्म की आवश्यकता का बोध ही नहीं करते। परन्तु हनुमानजी का कर्मयोग ऐसा विलक्षण है कि वे सारे राक्षसों से युद्ध करने में समर्थ हैं। फिर जो बलवान होते हैं, उनमें कर्म करने की शक्ति तो होती है, पर बहुधा उनमें विवेक नहीं होता, परन्तु गोस्वामीजी ने कहा कि हनुमानजी 'दनुजवन-कृशानुम्' तो हैं ही, पर ज्ञानियों में भी सबसे आगे हैं – अग्रगण्य हैं। और इतना लिखते-लिखते कवि मानो थक गया। उनसे पूछा गया कि अब और कितने गुण हनुमानजी के गिनाने बाकी हैं? तो उन्होंने एक वाक्य लिख दिया कि बस हम इतना ही लिख देते हैं कि कोई ऐसा गुण ही नहीं है, जो हनुमानजी में न हो –

सकल गुण निधानम् ।।

उसके पश्चात् अन्त में उन्होंने कहा – जो श्रीराम के प्रिय भक्त हैं, उन आंजनेय हनुमानजी के चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ। यह जो वाक्य हनुमानजी के विषय में कहा गया, आइये उसके अन्तरंग अर्थ पर दृष्टि डालें।

कल बताया गया कि जब भगवान शंकर ने अवतार लेने का निर्णय किया, तो उन्होंने नर-शरीर स्वीकार नहीं किया, अपितु वानर के रूप में आये। इसके पीछे एक संकेत भरी कथा है। नारदजी का जो प्रसंग चल रहा था कि उनके हृदय में जब विवाह करने की इच्छा हुई, तब भगवान ने उन्हें वानर

की आकृति दे दी थी। इसका परिणाम क्या हुआ? नारद जब स्वयंवर सभा में बैठे और विश्वमोहिनी वरमाला लेकर निकली, तो नारद हर क्षण कल्पना कर रहे थे कि भगवान ने तो मुझे अपना ही सौन्दर्य दे दिया हैं, अत: जब वह विश्वमोहिनी आवेगी, तो निश्चित रूप से मेरा ही वरण करेगी। दुर्भाग्यवश उनके पास दर्पण नहीं था, उन्होंने मान लिया कि मैं अत्यन्त सुन्दर हूँ। वह दुर्भाग्य इसलिये और बढ़ गया कि शंकरजी के गण बहुत दिनों से नारद के पीछे लगे हुये थे। क्यों लगे हुये थे? इस कथा के मूल में यह बात आती है कि नारद ने जब काम को जीत लिया, नारद के भय से कामदेव ने जब उनके चरणों में प्रणाम किया तो नारद ने उसे क्षमा करते हुए कहा – "तुम डरो मत, मैं तुम्हें कोई दण्ड देनेवाला नहीं हूँ। तुमने तो यह कार्य इन्द्र की प्रेरणा से किया है, लेकिन तुम्हारी तो बात क्या, मुझे तो इन्द्र के ऊपर भी कोई क्रोध नहीं है। मैं समझ गया कि इन्द्र को चिन्ता बनी रहती है कि मेरे स्वर्ग पर कोई अधिकार न कर ले, तो तुम जाकर इन्द्र से कह देना कि मुझे उनका स्वर्ग नहीं चाहिये। इन्द्र स्वर्ग में निवास करें।" इस प्रकार नारद ने मानो काम, क्रोध और लोभ – इन तीनों को जीत लिया।

इसमें एक बहुत बड़ा संकेत है और वह संकेत यह है। बताया गया है कि जैसे शरीर में रोग होते हैं, वैसे ही व्यक्ति के मन में भी रोग होते हैं। आयुर्वेद में यह माना जाता है कि तीन धातुओं के द्वारा व्यक्ति का शरीर तथा उसकी नाड़ियाँ चल रही हैं और उन तीन धातुओं को कफ, वात और पित्त का नाम दिया गया है। ऐसी मान्यता है कि कफ, वात और पित्त – जब तक सही-सही तथा सन्तुलित मात्रा में रहते हैं, तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है। जब इन तीनों में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है, चाहे वात बढ़ जाये या पित्त बढ़ जाये या कफ बढ़ जाये, तो व्यक्ति रोगी हो जाता है।

उन्होंने कहा कि ठीक इसी तरह से मनुष्य के मन में भी कफ वात और पित्त हैं। वह कफ-वात-पित्त क्या है? बोले – मनुष्य के मन में रहनेवाला 'काम' ही मन का वात है। मनुष्य के मन में उदित होनेवाला 'क्रोध' ही पित्त है और मनुष्य के मन में आनेवाला 'लोभ' ही कफ है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के मन में काम, क्रोध, लोभ यदि उचित मात्रा में हों, तो वह व्यक्ति स्वस्थ है।

यदि कोई चिकित्सक सोचे कि कफ-वात-पित्त ही सारे रोगों का जड़ हैं और हम ऐसी दवा दे दें कि रोगी के शरीर से कफ, वात, पित्त पूरी तरह से मिट जाय, तो इससे केवल रोग ही नहीं, रोगी भी मिट जायेगा। जब शरीर में कफ नहीं होगा, पित्त नहीं होगा, वात नहीं होगा, तो शरीर तो चल ही नहीं सकता। यही जीवन का भी सत्य है। सृष्टि का निर्माण 'काम' के द्वारा होता है। मनुष्य के पुरुषार्थ के मूल में 'लोभ' होता है और मनुष्य जब किसी बुराई को मिटाने की बात सोचता है, उसके मन में तो बुराई के प्रति – अन्याय के प्रति क्रोध होता है। इसलिये इन तीनों का सही मात्रा में होना कोई बुरी बात नहीं, बल्कि अच्छी बात है। परन्तु ऐसा हो नहीं पाता। इनकी मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि व्यक्ति रोगी हो जाता है, समाज रोगी हो जाता है। एक रोग से आप परिचित होंगे, जिसके लिये आयुर्वेद में सन्निपात शब्द का प्रयोग किया गया है। सन्निपात क्या है? अलग-अलग रोगों के साथ यह कहा गया कि कभी-कभी ऐसा ज्वर होता है कि धीरे-धीरे मस्तिष्क पर उसका अधिकार हो जाता है। तब व्यक्ति की एक पागल जैसी दशा हो जाती है और वह बक-झक करने लगता है। ऐसा माना जाता है कि वह रोग बड़ा गम्भीर है और उसे मिटाना अत्यन्त कठिन है। रावण जैसा व्यक्ति जब अंगद के सामने बक-झक करने लगा, तो अंगद बोले – "मैं समझ गया कि तुम्हें सन्निपात हो गया है –

सन्यपात जल्पसि दुर्बादा ।। ६/३३

क्योंकि तुममें काम की पराकाष्ठा है – इतनी सुन्दरियों से विवाह करने के बाद भी जब तुम श्री सीताजी को चुरा लाये हो, तो तुम्हारी काम की वृत्ति भी सीमा लाँघ गई। तुम क्रोध भी भले व्यक्तियों पर करते हो – विभीषण तुम्हारे कल्याण के लिये तुम्हें कोई बात बताते हैं, तो तुम्हें उन्हीं पर क्रोध आता है और तुम उन्हें लात मार करके घर से निकाल देते हो। क्रोध का इससे बढ़कर क्या दुरुपयोग होगा कि सन्त स्वभाववाले विभीषण पर क्रोध किया जाय? तो तुम्हारा क्रोध भी सीमा पार कर चुका है। फिर इस सोने की लंका को भी तुमने कैसे अपने भाई से छीन लिया? किस प्रकार तुम्हारे मन में सबकी चीजें छीन लेने की इच्छा होती है ! इस प्रकार तुम्हारे जीवन में लोभ की भी सीमा नहीं है।" गोस्वामीजी ने मानस-रोगों का वर्णन करते हुए लिखा है –

काम बात कफ लोभ अपारा ।
क्रोध पित्त नित छाती जारा ।।
प्रीति करै जौ तीनिउ भाई ।
उपजइ सन्यपात दुखदाई ।।

तो अंगद ने रावण से कहा – "तुम जो बक-झक कर रहे हो, इससे स्पष्ट हो गया कि तुम सन्निपात की उस स्थिति में पहुँच गये हो, जब रोगी बकने लगता है। अब मैं क्या कर सकता हूँ, तुम्हारा रोग तो असाध्य हो चुका है।"

अब यहाँ एक बड़ा अनोखा प्रश्न उठता है। जिसमें ये तीनों अवगुण हों, उसे तो सन्निपात होता है, परन्तु यदि कोई इन तीनों गुणों को जीत ले तो? बड़ी अनोखी बात है। नारदजी ने काम, क्रोध और लोभ – तीनों को जीत लिया है। रावण के जीवन में तीनों की पराकाष्ठा है और नारद के जीवन में काम, क्रोध और लोभ – तीनों पर विजय है।

इस प्रकार नारद ने बड़ा अद्‌भुत कार्य किया। परन्तु रामायण में बहुत बढ़िया विश्लेषण किया गया। बताया गया कि उन्हें ये तीनों रोग तो नहीं सता पाये, परन्तु उन्हें एक चौथा ही रोग हो गया। वह चौथा रोग क्या है? ये जो गुणवान लोग होते हैं, उनको सबसे बड़ा – अभिमान का रोग हो जाता है। जहाँ गुण हुये, तो उस व्यक्ति को यह लगता है कि मुझमें यह गुण है और उसे उसका अहंकार हो जाता है। इस अहंकार के विषय में गोस्वामीजी ने कहा – अहंकार अति दुखदाई डमरुआ रोग है –

अहंकार अति दुखद डमरुवा ।। ७/१२१/३५

डमरुवा एक तरह का पेट का रोग होता है। इसमें व्यक्ति जो भोजन करता है, उसे पचा नहीं पाता और इससे पेट फूल जाता है। अहंकारी भी जब कोई अच्छा काम करता है और उसकी प्रशंसा होती है, तो वह उसे पचा नहीं पाता। प्रशंसा सुनने में कोई हानि नहीं है। भोजन बढ़िया-से-बढ़िया करने पर भी व्यक्ति यदि उसे पचा ले, तो उससे शरीर को शक्ति मिलती है, परन्तु यदि कोई प्रशंसा सुनकर उसे पचा ही न सके, तो वह प्रशंसा उसके लिये अत्यन्त हानिकारक है, उसे नीचे की ओर ले जानेवाली है।

नारद ने तो काम, क्रोध और लोभ को जीत लिया; परन्तु इसका उल्टा फल निकला। काम के ऊपर इस सत्संग का अच्छा प्रभाव पड़ा। उसने स्वर्ग में जाकर कहा कि नारदजी ने आज तक तीनों विकारों को जीत लिया है और यह उन पर भगवान की ही कृपा है –

मुनिहि प्रसंसि हरिहि सरुनावा । १/१२७/४

काम में तो वह बात आ गई जो सन्त में आनी चाहिये। दूसरी ओर नारद पर काम के कुसंग का बुरा प्रभाव पड़ गया, उनकी बुद्धि पलट गयी। काम के मन में अच्छी बात आ गई और जब वह चला गया, तो नारदजी अकेले में बैठकर सोचने लगे कि मैंने जो कार्य किया है, क्या आज तक विश्व के इतिहास में दूसरा कोई इसे कर सका है? अहंकार हँसने लगा। बोला – "आपने हमें अकेले बुला लिया है, पर हम राक्षस तो अकेले रहते ही नहीं हैं। जब कोई दुर्गुण आता है तो वह सारे दुर्गुणों को बुला लेता है।" इसके बाद एक बड़ा अच्छा सूत्र आता है। अहंकारी अकेला क्यों नहीं रहता? इसलिये कि अहंकारी को कोई प्रशंसा करनेवाला चाहिये। अहंकारी को कोई ऐसा व्यक्ति चाहिये, जिसकी तुलना में वह अहंकार कर सके। यदि किसी को धन का अहंकार करना है, तो किसी निर्धन को ढूँढ़ेगा, ताकि उससे तुलना करके वह कहे कि मैं धनी हूँ। बुद्धिमत्ता का अहंकार करना है, तो पहले किसी मूर्ख को खोजिये और उससे तुलना करके कहिये कि हम बड़े बुद्धिमान हैं। इसलिये अहंकार को हमेशा दूसरे की आवश्यकता होती है।

नारदजी की भी वही दशा हो गई। पहले तो एकान्त में बैठे हुये ध्यान कर रहे थे, परन्तु अब सोचने लगे कि मैंने जो महान् कार्य किया है, उसको किसे सुनाये? तब उनका ध्यान गया कि यह शंकरजी को सुनायें। क्यों? नारद को लगा कि शंकरजी जब सुनेंगे कि नारद ने काम, क्रोध, लोभ को जीत लिया, तो उन्हें मुझसे ईर्ष्या हुये बिना नहीं रहेगी, क्योंकि वे काम के विजेता तो हैं, पर उन्हें क्रोध आ जाता है, अत: जब वे सुनेंगे कि नारद ने तीनों को जीत लिया, तो उन्हें कैसा लगेगा? जरा सुनाकर देखे उनको कैसा लगता है! व्यक्ति का यह मन बड़ा विचित्र है। नारदजी ने शंकरजी के पास जाने का निर्णय लिया।

इसमें एक सूत्र आपको बता दें कि शरीर के रोगों का तो ठीक होना सम्भव है, पर मन के रोगों का ठीक होना – समूल रूप से नष्ट होना बहुत कठिन है। उसका कारण यह है कि शरीर के रोगी तो अपने को रोगी मानते हैं, परन्तु मन के रोगी अपने को नहीं, बल्कि सामनेवाले को ही रोगी मानते हैं। जब हम अपने को रोगी मानेंगे, तभी तो दवा खोजेंगे और सामनेवाले को रोगी मानेंगे, तो यही सोचेंगे कि उसका इलाज होना चाहिये। नारद के सामने यही समस्या है। अहंकार का रोग तो स्वयं उन्हीं में है, पर वे दोष की कल्पना शंकरजी में कर रहे हैं। यह कितना बड़ा व्यंग्य है? भगवान शंकर त्रिभुवन के गुरु हैं। यहाँ व्यंग्य यह है कि शिष्य मानो कोई बहुत बड़ी सफलता पाने के बाद अपने को गुरु से भी श्रेष्ठ मानने का अभिमान करे। ऐसा बहुत बार हुआ करता है। काशी के एक बहुत प्रसिद्ध विद्वान् थे, सारे देश में भ्रमण करके उन्होंने बड़े-बड़े विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और उन्हें हरा दिया। लौटकर आये, तो अपने गुरुजी के पास गये और उन्हें प्रणाम किया। गुरुजी बड़े प्रसन्न थे कि उसके शिष्य ने सारे देश में विजय प्राप्त कर लिया। उन्होंने कहा – तुमने तो बहुत बड़ी सफलता पा ली, देश के सारे विद्वानों को हरा दिया। शिष्य बोला – बस, एक आप ही बाकी हैं। उसका अर्थ यही है कि अब आपको गुरु समझकर भले ही न कहें, पर अब आप भी मेरे सामने कुछ नहीं हैं। कैसी विचित्र बात है! नारदजी के मन में तुलना यह हो गई कि मैं अपने गुरु से बड़ा हूँ। बहुत से चेलों को ऐसा भ्रम हो जाता है। शिष्य जब यह मान लेता है कि वह गुरु की अपेक्षा भी बहुत आगे है, अधिक ऊँची स्थिति में है, तो फिर उसके लिये बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। नारद की यही स्थिति है और उसी स्थिति में वे भगवान शंकर के पास गये। भगवान शंकर के मन में रोग कहाँ, वे तो त्रिभुवन गुरु हैं!

रामायण में बताया गया है कि शरीर में रोग होने के बाद जैसे आप वैद्य या डॉक्टर के पास जाते हैं, तो मन में रोग हो तो व्यक्ति को कहाँ जाना चाहिये? बोले – सद्‌गुरु के पास –

सद्‌गुर बैद वचन बिस्वासा ।। ७/१२२/६

सद्‌गुरु ही वैद्य है। अब आप कल्पना कीजिये कि रोगी को जब वैद्य ही रोगी लगने लगे, तब क्या होगा? गये तो वैद्य के पास, पर त्रिभुवन-गुरु शंकर को वैद्य मानकर नहीं गये, बल्कि उन्हें रोगी मान कर गये।

जीवन में बड़े विचित्र अनुभव होते हैं। पिछले वर्ष संयोग से देहली के रामकृष्ण मिशन में भी प्रवचन था। उस दिन व्याख्या हुई कि इतिहास में तो, त्रेतायुग में कुम्भकर्ण था, पर व्यक्ति का अहंकार ही सबसे बड़ा कुम्भकर्ण है। उसके बाद जब प्रवचन करके लौटा, तो उसका उपयोग मैंने तत्काल ही देख लिया। जो दम्पत्ति मुझे प्रवचन स्थल पर लेकर गये थे, उनमें से पतिदेव आ गये थे, पत्नी नहीं आई थीं। इस पर उन्होंने मुस्कुराकर कहा कि आप गाड़ी में बैठ जाइये, अब कुम्भकर्ण आवे, तब न चलें ! उनका संकेत अपनी पत्नी की ओर था। लेकिन विचित्र दृश्य तब उपस्थित हुआ, जब पत्नी आईं और आते ही पहला वाक्य उन्होंने यही कहा कि आज की कथा तुमने ध्यान से सुनी या नहीं? आज पूरा-का-पूरा तुम्हारा ही वर्णन था। मुझे भी सुनकर बड़ी हँसी आई। पति को लगा कि पत्नी अहंकारी है और पत्नी को लगा कि पति घोर अहंकारी है। दोनों ही एक दूसरे को कुम्भकर्ण कह रहे हैं। मैंने कहा – चलिये, रामायण में राम और कुम्भकर्ण के युद्ध का तो वर्णन है, पर आज कुम्भकर्ण से कुम्भकर्ण का युद्ध देखने को मिल रहा है। सच बात तो यही है कि समाज में राम से कुम्भकर्ण का युद्ध तो बहुत कम होता है, कुम्भकर्ण का कुम्भकर्ण से ही युद्ध दिखाई देता है। समाज में सर्वत्र अभिमान से अभिमान की ही लड़ाई दिखाई देती है। नाम चाहे उसका जो दिया जाय, परन्तु अच्छाई और बुराई की लड़ाई तो बहुत कम दिखाई देती है। बहुधा दो प्रकार के अभिमानों की आपसी टकराहट होती है।

देवर्षि नारद को तो यही कल्पना है कि शंकरजी जब मेरी विजय की बात सुनेंगे, तो उन्हें ईर्ष्या हो जायेगी। परन्तु शंकरजी सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने नारद से कहा – ''आइये, आइये, बड़ा अच्छा हुआ आप आये। अब सुनाइये भगवान की कथा।'' तब नारद ने कहा – ''महाराज, रामकथा तो आप अनेक बार सुन चुके हैं, अब कुछ नई कथा भी सुनिये।'' क्या सुनाया नारदजी ने? – मार की कथा –

मार कथा संकरहि सुनाये ।। १/१२७/६

व्यंग्य है। गोस्वामीजी ने 'राम' न लिखकर 'मार' लिखा। 'राम' और 'मार'। इसमें संकेत यह है कि आप 'राम' लिखिये तो भी 'र-अ-म' – ये तीन अक्षर हैं और 'मार' लिखिये तो भी वही तीन अक्षर 'म, अ और र'। अक्षर बिल्कुल वही है, बस जो सीधा है वह राम है और उलट दिया तो 'मार' हो गया। तो शंकरजी ने कहा कि बात तो एक ही है, चाहे 'राम' हो, या 'मार' हो। तब नारदजी ने बताया कि कैसे काम आया, अप्सरायें आईं, कैसे उन्होंने आकृष्ट करने की चेष्टा की, पर मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जब सुना चुके, तो बड़े ध्यान से देखने लगे कि देखें शंकरजी पर क्या प्रभाव हुआ। बहुधा वक्ता सोचता है कि वह जो भाषण दे रहा है, जो बात कह रहा है, वह श्रोताओं को अच्छी लगी या नहीं। तो नारदजी शंकरजी को ध्यान से देख रहे थे। पर शंकरजी ने जो वाक्य कह दिया, उसे यदि कोई श्रोता वक्ता से कह दे, तो उस एक वाक्य में इतनी बड़ी आलोचना कोई नहीं हो सकता। शंकरजी ने उन्हें प्रणाम किया और उसके बाद कहा – मैं आपसे बार-बार एक प्रार्थना करता हूँ। – क्या? बोले – आपने यह कथा जैसे मुझे सुनाया, भगवान विष्णु को मत सुनाना –

बार बार बिनवउँ मुनि तोही ।
जिमि यह कथा सुनायहु मोही ।।
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहुँ ।
चलेहुँ प्रसंग दुरायेहु तबहूँ ।। १/१२६/७-८

क्या अर्थ है इसका? आपसे मैं पूछ दूँ कि आपको कथा कैसी लगी और आप में से कोई कह दे कि आज सुनाया तो सुनाया, फिर कभी ऐसी कथा न सुनाइये, तो इससे बढ़कर वक्ता के लिये कोई कड़ी आलोचना नहीं हो सकती। पर शंकरजी ने बहुत बढ़िया बात कही। उन्होंने कहा – कथा सुनाने से मैं नहीं रोक रहा हूँ। रामायण की जो चौपाई है वह थोड़ा भाषा से जुड़ा हुआ है। उन्होंने कहा – जिस ढंग से मुझे सुनायी, उस ढंग से मत सुनाना –

जिमि यह कथा सुनायहु मोही ।। १/१२७/७

बहुत बड़ा सूत्र है। महत्त्व घटनाओं का नहीं है, बल्कि महत्त्व इसका है कि हम घटना को किस दृष्टि से देखते हैं, घटना को किस ढंग से सुनाते हैं, उसका क्या अर्थ लेते हैं।

कथा का क्या अर्थ होता है? कथा केवल घटनाओं का वर्णन मात्र नहीं होता। यदि रामायण की घटनाओं को देखें, तो रामायण तो दो चौपाई में समाप्त हो गई। – कैसे? – एक राम अयोध्या के राजकुमार थे। उनकी पत्नी को राक्षस ने चुरा लिया। उनको क्रोध आ गया और उन्होंने राक्षस को मार डाला। हो गई रामायण समाप्त।

एक राम अवधेस कुमारा ।
तिन्हकर चरित बिदित संसारा ।।
नारि बिरहँ दुख लहेउ अपारा ।
भयउ रोषु रन रावनु मारा ।।

परन्तु कथा का अर्थ यह है कि हम उन घटनाओं को कैसे देखते हैं, उनका क्या अर्थ निकालते हैं। कथा केवल इतिहास का वर्णन मात्र नहीं है, वह घटनाओं की व्याख्या भी है। भगवान शंकर का तात्पर्य यह था कि यह कथा जिस

तरह से आपने मुझे सुनायी, वह तो आत्म-विज्ञापन जैसा लग रहा है। आप चाहते तो इस कथा को दूसरे ढंग से सुना सकते थे। आप कह सकते थे कि मेरा क्या महत्त्व है, प्रभु इतने कृपालु हैं कि उन्होंने उन बुराइयों से मेरी रक्षा की। व्यक्ति ईश्वर की कृपा के बिना बुराइयों से बच नहीं सकता। तब तो यह कथा बड़ी कल्याणकारी होती। पर आपने जैसे सुनाया, वैसे मत सुनाइयेगा।

पर नारदजी तो मन-ही-मन खूब हँसे – मुझे तो पहले ही पता था कि इनको ईर्ष्या हुये बिना नहीं रहेगी। अब इनको इतनी ईर्ष्या हो रही है कि ये चाहते ही नहीं है कि दूसरा कोई मेरी इस विजय को जाने। थोड़ा परीक्षा लेने के लिये शंकरजी से पूछा – "अच्छा, मैं तो नहीं सुनाऊँगा, परन्तु भगवान विष्णु यदि स्वयं पूछें, तो मैं क्या करूँगा?" इस पर शंकरजी ने कहा – वे पूछे भी तो छिपा लेना –

चलेउ प्रसंग दुराएहु तबहूँ ।।

अब तो नारद को लगा कि शंकरजी इतने नीचे गिर गये? मुझे कपट की शिक्षा दे रहे हैं। कह रहे हैं कि भगवान अगर पूछे तो भी छिपा लेना। मैंने सोचा भी नहीं था कि शंकरजी इतने नीचे गिर जायेंगे। भगवान को तो छल-कपट बिलकुल भी पसन्द नहीं है –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।। ५/४४/५

परन्तु ये कह रहे हैं कि भगवान से भी छिपा लेना। ये तो मुझे कपट की शिक्षा दे रहे हैं। शंकरजी क्या उन्हें कपट की शिक्षा दे रहे थे? सरलता का क्या अर्थ है? मान लीजिये आपने बड़ा स्वादिष्ट भोजन किया हो, पर आप उसे पचा न सकें। उलटी हो कर वह बाहर निकल जाय। तो क्या आपकी सरलता यही है कि जो भी आये, उसे आप दिखायें कि देखिये मैंने क्या-क्या खाया था, क्या बढ़िया-बढ़िया मिठाइयाँ सामने पड़ी हुई हैं! बुद्धिमान व्यक्ति तो स्वयं भी उनको देखना नहीं चाहेगा। सफाई कर देगा या ढँक देगा कि कोई देख न ले। शंकरजी का तो बहुत बड़ा संकेत है – नारदजी को तो कै हो गई, पच नहीं पाया। जब कोई व्यक्ति अपनी प्रशंसा करे, तो समझिये कि पचा नहीं पाया। शंकरजी बोले – महाराज, यह कोई दिखाने की वस्तु थोड़े ही है। पर नारदजी को तो यही लगा कि शंकरजी नीचे गिर गये। फिर वह आप जानते हैं, नारद विष्णु भगवान के पास गये और जब भगवान ने उनकी दशा देखी, तो उनके हित के लिये उन्होंने यह निर्णय किया कि नारद को यह बता दें कि तुम बुराइयों को जीतने का जो दावा कर रहे हो, वह सही नहीं है। तब उसी प्रसंग में नारद के मन में तीव्र काम का उदय हुआ, क्रोध भी आया, लोभ भी आया, सारे विकार आये और तब उन्हें बन्दर की आकृति दी गई। ❖ **(क्रमशः)** ❖

अमृतवाणी –

विनम्रता का गुण

फलवान वृक्ष की डालियाँ सदा नीचे की ओर झुकी होती हैं। यदि तुम बड़े बनना चाहते हो, तो छोटे (विनम्र) बनो।

ऊँचे उठना (महान् बनना) हो, तो पहले नीचा (विनम्र) बनना चाहिए। चातक पक्षी का घोसला नीचे होता है, पर वह आकाश में बहुत ऊँचाई पर उड़ता है।

ऊँची जमीन में खेती नहीं होती, उसके लिए नीची जमीन चाहिए, जहाँ पानी जम सके। खेती तभी हो सकती है।

तराजू का जो पलड़ा भारी होता है, वह नीचे आ जाता है और जो हलका होता है, वह ऊपर उठ जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति गुणी और सामर्थ्यवान होता है वह सदा नम्र और विनयशील होता है, मूर्ख ही झूठे अहंकार से फूला रहता है।

अज्ञान अवस्था में ही अहंकार रहता है, ज्ञान होने पर नहीं रहता। जिसमें गर्व नहीं उसी को ज्ञान की प्राप्ति होती है। बरसात का पानी नीची जमीन पर ही ठहरता है, ऊँची जगह पर नहीं ठहर पाता।

सुई में धागा पिरोना हो तो पहले धागे को ऐंठकर नुकीला बनाओ, ताकि उसमें रोएँ न रहें। तभी वह सुई के छेद में घुस सकता है। मन को ईश्वर में डुबाना हो, तो दीन-हीन तथा विनम्र बनो; कामना-वासना रूपी रोओं को दूर कर दो।

कई लोग विनय का ढोंग रचते हुए कहते हैं – "मैं तो कीट हूँ।" इस प्रकार स्वयं को हमेशा कीट कहते-कहते कुछ दिनों बाद मनुष्य वास्तव में ही कीट की तरह दुर्बल बन जाता है। मन में कभी हीन भाव या हताशा नहीं आने देना चाहिए। उन्नति के पथ पर हताशा बड़ा भारी शत्रु है। हताश हो जाने से धर्मपथ पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। जिसका जैसा भाव होता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

स्वयं को ज्यादा चतुर समझना उचित नहीं। कौआ खुद को कितना चालाक समझता है! वह कभी फन्दे में नहीं फँसता। भय की तनिक आशंका होते ही उड़ जाता है। कितनी चतुराई के साथ वह खाने की चीजें उड़ा ले जाता है! पर इतना होते हुए भी वह विष्ठा खाकर ही मरता है। ज्यादा चालाकी करने का यही परिणाम होता है।

यथार्थ मनुष्य तो वही है, जो 'मन-होश' हो – अर्थात् स्वाभिमान का होश हो। दूसरे लोग तो निरे 'मनुष्य' हैं।

जो अहंकार आत्मा की महिमा को प्रकट करता है वह अहंकार नहीं। जो विनय आत्मा के गौरव को नीचे लाती है वह विनय नहीं।

– श्रीरामकृष्ण

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

मनुष्य स्वयं अपना भाग्यनिर्माता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य सामान्यतः भाग्यवादी होता है। 'भाग्य' शब्द से ऐसा कुछ ध्वनित होता है, जिस पर मनुष्य का बस न चलता हो, जो उसके जीवन का ऐसा तत्त्व हो, जो बाहर से उस पर लादा गया हो। पर वह भाग्य नहीं है। भाग्य का असल तात्पर्य है प्रारब्ध, और यह प्रारब्ध हमारे स्वयं का बनाया होता है। अतएव अपने भाग्य का निर्माण हम स्वयं करते हैं, इसके लिए अन्य कोई दूसरा उत्तरदायी नहीं होता।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – साधारणतः मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर भाग्य नामक एक 'भूत' की कल्पना करता है और उसी को उन सबके लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है। पर प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नामक वह वस्तु है क्या और कहाँ है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही पाते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो भी कोई दूसरा दोषी नहीं, और यदि हमारे भाग्य अच्छे हों, तो भी दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बह रही है। जिन जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल नहीं खुले रहते, उन पर वायु नहीं लगती। तो क्या यह वायु का दोष है? अतः भाग्य और कुछ नहीं, पूर्वजन्म में हमारे द्वारा किये गये कर्मों का ही फल है। और जब यह मान लिया जाय कि हमारे जीवन में आनेवाले कष्ट हमारे अपने ही कर्मों के फल हैं, तो यह भी स्वयंसिद्ध हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसे हम नष्ट नहीं कर सकते।

इसलिए स्वामी विवेकानन्द हमारा आह्वान करते हुए कहते हैं - अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। '**गतस्य शोचना नास्ति**' – सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य (संस्कार के रूप में) संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत् विचार और असत् कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत् विचार और सत् कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।

यह एक विडम्बना है कि मनुष्य को जब सफलता मिलती है तब वह भाग्य की बात नहीं करता, पर जब वह असफलता का शिकार होता है, तब भाग्य की बातें करने लगता है। इसका स्पष्ट अर्थ तो यही है कि सफलता में उसे अपना पुरुषार्थ दिखाई देता है, पर असफलता का दोष वह अपने पुरुषार्थ की कमी में नहीं देखता। असफल व्यक्ति में भाग्यवादी बनने की प्रवृत्ति होती है और वह अकर्मण्यता की ओर जाने लगता है। स्वामी विवेकानन्द असफलता को भी सकारात्मक मानते हैं, कहते हैं – असफलताओं से निराश न होओ! उनके बिना जीवन भला क्या होता! असफलताओं से ही ज्ञान का उदय होता है। अनन्तकाल हमारे सम्मुख है – फिर हम हताश क्यों हों! दीवाल को देखो। क्या वह कभी मिथ्या भाषण करती है? पर उसकी उन्नति भी कभी नहीं होती – वह दीवाल की दीवाल ही रहती है। मनुष्य मिथ्या भाषण करता है, किन्तु उसमें देवता बनने की भी क्षमता है। नर नारायण भी बन सकता है। इसलिए हमें सदैव क्रियाशील – प्रयत्नशील बने रहना चाहिए। गाय कभी झूठ नहीं बोलती, पर वह सदैव गाय ही बनी रहती है। इसलिए क्रियाशील बनो, कुछ-न-कुछ करते रहो।

स्वामीजी पुरुषार्थ के ऐसे पक्षधर हैं कि एक स्थान पर कहते हैं – मुझे विश्वास है कि ईश्वर उस व्यक्ति को क्षमा कर दे सकता है, जो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और आस्था नहीं रखता, किन्तु वह उसे क्षमा नहीं करेगा, जो उसकी दी हुई शक्ति का उपयोग किये बिना ही विश्वास कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि हमारे अपने कर्म ही उस शक्ति का निर्माण करते हैं, जिसे 'भाग्य' के नाम से पुकारा गया है, अतएव अपने भाग्य को बनाने या बिगाड़ने का सारा दायित्व हमारा अपना है। ❑❑❑

भागवत की कथाएँ (११)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

रास-लीला

(रास-लीला श्रीमद्भागवत का एक विशेष अंश है। इसका पाँच अध्यायों में वर्णन हुआ है। इसीलिये इसे 'रास-पंचाध्याय' कहते हैं। श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ यमुना-तट पर नृत्य किया था। महापावन तरुण तपस्वी शुकदेव ईश्वरीय परा-भक्ति की इस कथा का वर्णन करते हैं और सुन रहे हैं मृत्यु-पथ के यात्री राजा-परीक्षित। कोई अपवित्र भाव इस लीला के भीतर नहीं रह सकता। यह रास-लीला ईश्वरीय प्रेम के अति उच्च स्तर का रूपक है।*)

श्रीकृष्ण ने अपनी आयु के आठवें वर्ष में प्रवेश किया है। वे योगेश्वर हैं। उनमें अनेक अलौकिक शक्तियाँ हैं। पूतना-वध, कालिय-दमन, गिरि-गोवर्धन धारण आदि घटनाओं में हमने इसे देखा है।

गोपियों ने देवी कात्यायनी की पूजा करके उनसे जगत्-पति श्रीकृष्ण को अपने पति के रूप में पाने के लिए प्रार्थना की थी। आज उनकी कामना पूरी होगी।

आज पूर्णिमा है। यमुना के तट पर अद्‌भुत छटा बिखरी हुई है। चन्द्रमा खिले कमल की भाँति अखण्ड-मण्डल होकर आकाश में सुशोभित हो रहा है। हृदय के आनन्द से श्रीकृष्ण ने बाँसुरी बजानी शुरू की। उस बाँसुरी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ घर के सारे काम-काज छोड़कर यमुना की ओर दौड़ पड़ीं। उन लोगों को देखकर श्रीकृष्ण ने कहा – "तुम लोग इस समय इस वन में क्यों आयीं? यहाँ हिंसक पशु हो सकते हैं। तुम सब अबला हो। तुम लोगों का यहाँ रहना उचित नहीं है। यदि वन की शोभा देखने के लिए आयी हो, तो वह देखना हो गया। यदि मेरे प्रति प्रेम है, तो इसमें भी दोष नहीं है, क्योंकि समस्त प्राणी ही मेरे प्रति अनुरक्त रहते हैं। अभी तुम सभी घर लौट जाओ। पति-पुत्र की सेवा ही स्त्रियों का धर्म है।"

गोविन्द के इस कठोर वचन को सुनकर गोपियाँ दुखी हो गयीं। उन सबने कहा – "हम लोग समस्त धन-सम्पदाओं तथा घर-परिवार को छोड़कर आपके श्रीचरणों की पूजा-उपासना करती हैं। हम लोगों ने आपके युगल-चरणों में आश्रय लिया है, हमारा त्याग मत कीजिये। भगवान जिस प्रकार भक्त को स्वीकार करते हैं, उसी तरह आप भी हमें स्वीकार करें। हे पद्म-पलाश-लोचन! स्वयं लक्ष्मी देवी भी आपके श्रीचरणों की खोज में परेशान रहती हैं। हम लोग तो साधारण वनचारी व्रजवासिनियाँ हैं। आपके चरणों का स्पर्श कर धन्य हुई हैं। अब क्या हम आपको भूलकर अपने पति-पुत्र को लेकर रह सकती हैं! हम सब निश्चयपूर्वक जानती हैं कि जिस प्रकार ब्रह्मा देवलोक की रक्षा करनेवाले हैं, उसी प्रकार आप व्रजभूमि के रक्षक हैं। हे पीड़ितों के हितैषी! कृपया अपने कोमल हाथ हमारे सिर पर रख दीजिए। हम सब आपके श्रीचरणों की दासियाँ हैं।

गोपियाँ भगवान श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करने में रत हुईं। गोविन्द उन लोगों को साथ लेकर यमुना तट पर इधर-उधर घूमने लगे। श्रीकृष्ण से इतना स्नेह पाकर, इतना

* रासलीला-प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "वृन्दावन की मधुर-लीला (राललीला) में रूपक भाव से वर्णित प्रेम के उस अत्यन्त अद्‌भुत विकास को, उसे छोड़कर अन्य कोई नहीं समझ सकता, जो प्रेमरूपी मदिरा के पान से उन्मत्त हो गया हो। गोपियों का वह प्रेम, जो प्रेम का आदर्श-स्वरूप है, जो प्रेम प्रेम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहता, जो प्रेम स्वर्ग की भी आकांक्षा नहीं करता, जो प्रेम इहलोक और परलोक की किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता, उस प्रेम से उत्पन्न विरह-यंत्रणा के भाव को समझ सकता है?... कृष्ण-अवतार का मुख्य उद्देश्य इसी गोपी-प्रेम की शिक्षा है।... इस (गोपी-प्रेम) में रसास्वाद की उन्मत्तता, प्रेम की मदोन्मत्तता विद्यमान है; यहाँ गुरु और शिष्य, शास्त्र और उपदेश, ईश्वर और स्वर्ग – सब एकाकार हैं, भय के भाव का चिह्न-मात्र नहीं हैं; सब बह गया है – शेष रह गयी है केवल प्रेमोन्मत्तता। तब संसार का कुछ भी स्मरण नहीं रहता; तब भक्त संसार में उस कृष्ण, एकमात्र उस कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखता; तब वह समस्त प्राणियों में कृष्ण के ही दर्शन करता है; तब उसका मुँह भी कृष्ण के ही समान दीखता है; तब उसकी आत्मा कृष्ण-मय हो जाती है। यह है कृष्ण की महिमा!" (मद्रास-व्याख्यान से)

सम्मान पाकर, गोपियों के मन में अहंकार हुआ। उनका गर्व दूर करके उन्हें शुद्ध तथा पवित्र करने की इच्छा से श्रीकृष्ण अचानक अन्तर्धान हो गए।

(२)

श्रीकृष्ण को न देख पाने के कारण व्रज-नारियाँ अत्यन्त व्याकुल हो उठीं। वे – "कहाँ हो कृष्ण, हा कृष्ण" – कहती हुईं उन्हें चारों ओर ढूँढ़ने लगीं। उस समय वे पागल की भाँति वन के फूलों से पूछतीं – "हे अशोक, हे चम्पा, क्या तुम लोगों ने श्रीकृष्ण को देखा है? अरी तुलसी, तुम गोविन्द की इतनी प्रिय हो, बताओ कहाँ गये हमारे गोविन्द?" वृक्षों को सम्बोधित करके वे कहतीं – "हे रसाल, प्रियाल, हे कटहल, हे आम, तुम लोग तो दूसरों के लिए ही जीवन क्षय करते हो – यह हमें बता दो कि श्रीकृष्ण किस रास्ते से गए हैं। उनके विरह में हमारा हृदय सूना-सूना लगता है।

गोपियों ने श्रीकृष्ण को अपने सन्निकट पाया था। अब वे उन्हें खोकर उन्मादिनी हो गयी हैं। वे स्वयं को श्रीकृष्ण मानने लगीं और श्रीकृष्ण की लीला का अनुकरण कर कभी पूतना-वध तथा कभी कालिय-दमन का अभिनय करती हैं। यह सब करते हुए एक जगह वे सहसा श्रीकृष्ण के चरण-चिह्नों को देखकर उत्फुल्ल हो उठीं।

श्रीकृष्ण के चरणचिह्न को पहचानने में उन्हें कोई असुविधा नहीं हुई। उनके चरणों में जो वज्र तथा अंकुश का चिह्न है, उसकी छाप पड़ी है। थोड़ी दूर जाने पर उन लोगों ने एक और पदचिह्न देखा। यह क्या राधारानी के चरणों का चिह्न है? जो भगवान (ब्रह्मा), हरि (विष्णु) तथा ईश्वर (शिव) की आराधना करके राधारानी हो गयी हैं। इन तीन देवताओं के वरदान से वे भाग्यवती हो गयी हैं। गोविन्द हम सबको छोड़कर आज उन्हीं को साथ लेकर कहीं गए हैं। परन्तु श्रीकृष्ण कहाँ हैं? जी-जान से खोज होने लगी।

(३)

श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हुए वे श्रीकृष्ण में तन्मय होकर उन्हीं की लीला का स्मरण तथा उनके विषय में आपस में बातचीत करने लगीं – तुम्हारी बातों का स्मरण करके आज हम सबको कितना आनन्द मिला है! तुम्हारी कथा अमृत के समान है। उसके श्रवण मात्र से ही कल्याण होता है – इसके लिए किसी साधन-भजन की अपेक्षा नहीं होती। जो तुम्हारी अमृत-कथा का वितरण करते हैं, वे इस संसार में दाताओं में श्रेष्ठ दाता हैं।[१]

"हे कान्त, हे नाथ, जब तुम पैदल ही व्रज में चले जाते हो, तो तुम्हारे चरण-कमलों में कितनी पीड़ा होती होगी – यह सोचकर हमारा मन व्याकुल हो जाता है। अभी तुम कहाँ हो! तुम हमारे प्राण हो, हमारी परम आयु हो; तुम्हारी प्राणों को उन्मत्त कर देनेवाली बाँसुरी की धुन सुनकर हम अपने पति-पुत्र-भाई-परिवार – सबको छोड़कर तुम्हारे पास चली आयी हैं। तुम हमें दर्शन दो।"

(४)

काफी स्तुति-प्रार्थना करने के बाद गोपियाँ जब उच्च स्वर में रोने लगीं, तब पीतवसन मुरलीधर सहसा उनके समक्ष प्रकट हो गए। गोपियाँ उनके दर्शन से आनन्द में पागल हो गयीं। मदनमोहन श्रीकृष्ण उन गोपियों को लेकर यमुना-तट पर क्रीड़ा करने लगे। यमुना का तट फूलों से भरा हुआ है, फूलों की सुमधुर गन्ध से मधुमक्खियाँ गुनगुनाती हुई मधुर गान कर रही हैं। शरत् की चाँदनी चारों ओर बेला-चमेली के फूलों की भाँति फैल गयी है। तीनों लोकों की समस्त शोभा सम्मिलित होकर आज मानो श्रीकृष्ण के रूप में आविर्भूत हुई है और श्रीकृष्ण गोपी-मण्डल के बीच सुशोभित हो रहे हैं।

(५)

गोपिकाएँ आनन्द से परिपूर्ण होकर आपस में एक-दूसरे को अपनी बाँहों में आबद्ध करके संयुक्त हो गयीं। गोपी मण्डल-मण्डित योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उन लोगों में से प्रत्येक दो गोपियों के बीच प्रवेश करके रास-महोत्सव शुरू किया। प्रत्येक गोपी ने देखा कि श्रीकृष्ण उसका हाथ पकड़े हुए हैं।[२] हरेक गोपी सोच रही है कि जो संसार के पति हैं, जो संसार के आश्रय हैं, वे मेरे भी पति और मेरे भी आश्रय हैं। वे पूरी तौर से मेरे अपने हैं। अब तक उन गोपियों ने ध्यान करके अपने अन्त:करण में श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था – अब उन्होंने देखा कि वे श्रीकृष्ण उन सबके पास ही हैं।

गोपियों के मन के भीतर श्रीकृष्ण हैं और बाहर भी श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण जगत्मय हैं। गोपियाँ नाचती हैं, श्रीकृष्ण नाचते हैं, जो वेदान्त के सिद्धान्त-स्वरूप हैं, वे ही पूर्ण ब्रह्म नाच रहे हैं। वे सब देख रही हैं कि प्रत्येक दो गोपियों के बीच एक-एक श्रीकृष्ण हैं। उनके दाहिने श्रीकृष्ण हैं – बायें श्रीकृष्ण हैं; दूर में श्रीकृष्ण हैं, समीप में श्रीकृष्ण हैं। गोपियाँ देख रही हैं कि श्रीकृष्ण के अतिरिक्त संसार में और कुछ भी नहीं है। रास-लीला – अर्थात् सभी प्राणियों में रसमय श्रीकृष्ण का दर्शन; सभी भावों में रसमय का रसास्वादन। वे रस-स्वरूप हैं, आनन्द-स्वरूप हैं – 'रसो वै स:'।

१. तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीड़ितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना: ॥ १०/३१/९

२. रासोत्सव: सम्प्रवृत्तो गोपी-मण्डल-मण्डित:।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयो: ॥ १०/३३/३

आत्माराम के संस्मरण (१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: अपने जीवन के कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ घटनाएँ प्रकाशित हुई हैं और कुछ नयी – अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ भिन्न रूप में लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अनुवादक तथा सम्पादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

माँ का हृदय – रक्तदान

भानजा भोलानाथ – मेरी बड़ी बहन का पुत्र था। आयु में मुझसे तीन साल बड़ा था। दोनों की किशोरावस्था थी। आपस में बड़ा स्नेह-भाव था। उन दिनों मैं उसके साथ ही रहता और साथ ही पढ़ाई-लिखाई भी करता। बड़ी दीदी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था, इसलिये उन्हें मायके भेज दिया गया था। वे दूर – बिहार प्रदेश के बारसोई में रहती थीं।

भानजा आयु में बड़ा था, इसलिये लीडरशिप उसी का था। उसी के अनुसार बगीचा करना, पूजा करना, खेलना – सब कुछ में उसी का निर्देश चलता था। गर्मी के दिन थे, स्कूल की छुट्टियाँ चल रही थीं। उसने बिहार में ही भलीभाँति तैरना सीख लिया था। एक दिन वह मुझे भी तैरना सिखाने ले गया और बगीचे के तालाब में काफी दूर तक ले गया और मुझे वहीं छोड़कर स्वयं भागकर घाट पर आ गया। मैं किसी प्रकार हाथ-पाँव मारते और डूबते-उतराते घाट तक पहुँचा। काफी पानी पी चुका था। दैवी कृपा से ही मृत्यु के मुख से बचा था। माँ को पता चलने पर उन्होंने हम दोनों को ही खूब डाँट-फटकार लगायी। माँ कभी मारती नहीं थीं, केवल कान पकड़कर डाँटती भर थीं।

एक अन्य दिन भानजा मुझे यह सिखाने के लिये कि लकड़ी के पोले टुकड़े को किस प्रकार सिगरेट के समान पीया जाता है, बगीचे में खर के विशाल ढेर के पीछे ले गया, ताकि कोई जान न सके। (उसकी आयु तब ११-१२ साल रही होगी)। खर के ढेर के सहारे बैठकर हम दोनों लकड़ी के पोले टुकड़े को सिगरेट जैसा जलाकर उसका मजा देख रहे थे। सहसा खर की ढेर में आग लग गयी। वह भागकर बगीचे के बाहर कहीं चला गया और मुझे स्वयं दौड़कर आग की सूचना देनी पड़ी।

पोली लकड़ी के सिगरेट का आनन्द लेने के चक्कर में ढाई या तीन सौ रुपयों का खर जलकर राख हो गया। परन्तु माँ सब सुनकर केवल इस मूर्खता के लिये डाँटकर रह गयीं। पिताजी उस समय कोलकाता में थे।

इस घटना के कुछ दिनों बाद भानजे की बुद्धि से जो घटना हुई, उसके लिये उसका अज्ञान ही कारण था, इसलिये उसे दोष नहीं दिया जा सकता, परन्तु उसने मुझे मृत्यु के मुख तक पहुँचा दिया था।

बगीचे के एक ओर पिछले द्वार की चहारदीवारी काफी ऊँची थी, करीब डेढ़ मंजिल रही होगी। चहारदीवारी के किनारे-किनारे अमरूद, आम तथा बिलायती आमड़े के एक-एक पेड़ लगे हुए थे। बिलायती आमड़े खाने के लिये वह चहारदीवारी पर चढ़ गया और मुझे भी बुलाने लगा। अमरूद के पेड़ की सहारे मैं भी चढ़ गया। चहारदीवारी के पास ही झूल रहे दो-एक आमड़े तोड़कर हम दोनों ने खाये। खूब मीठे थे। एक बड़ा गुच्छा थोड़ी दूरी पर था। भानजे ने कहा – इस डाल को थोड़ा खींचकर पकड़। मैंने उसे खींचकर पकड़ लिया। इसके बाद उसने गुच्छे को ज्योंही खींचा, त्योंही डाल टूट गयी। बस – मैं चहारदीवारी के पीछे की ओर जा गिरा – सिर नीचे और पाँव ऊपर। नीचे कुछ झाड़ियाँ और ईंट के टुकड़ों का ढेर था, उसी पर गिरा।

जब होश आया, तो देखा कि माँ गोद में लेकर बैठी हुई हैं। रो रही हैं और खून से उनके वस्त्र भीग गये हैं। पास ही रहनेवाली ३-४ बागदी आदिवासी महिलाएँ और बगीचे का माली – नौकर वहाँ खड़े हैं। सम्भवत: छोटी दीदी (आयु में केवल दो वर्ष बड़ी) भी थी। मुझे बड़ी सावधानी के साथ घर में लाया गया। कमरे में सुला दिया गया – खिड़की से माँ-काली के मन्दिर की ओर हाथ जोड़कर माँ बोली – "माँ, बच्चे को बचा दो। तुम्हें सीना चीरकर रक्त दूँगी!" (माँ-काली का मन्दिर घर के पास ही था। एक हाथ जमीन के उस ओर। खिड़की से मन्दिर का दर्शन होता था।)

डॉक्टर ने आकर पट्टी बाँधी और बाँयी भौंह के ऊपर मस्तक को भेदकर लकड़ी का जो टुकड़ा अन्दर घुस गया था, उसे खींचकर निकाला गया था। उस समय मैं फिर बेहोश हो गया था। (सेवड़े के पौधों के ऊपर गिरने के कारण उतनी चोट नहीं आयी।) जब पुन: चेतना लौटी, तो देखा कि माँ पंखे से हवा कर रही हैं। कमरे में अनेक लोग हैं। डॉक्टर भी हैं। डॉक्टर ने कहा कि अब भय की बात नहीं है और होम्योपैथिक दवा के कई डोज देकर चले गये।

भानजा दिखाई नहीं पड़ रहा था। कहाँ गया, इसकी

खोज चल रही थी। वह एक सम्बन्धी के घर जाकर छिप गया था। पिताजी आये और बारसोई में बड़ी बहन को सूचना देकर उसे वहीं भेज दिया।

घाव को ठीक होने और मेरे स्वस्थ होने में बहुत दिन लगे थे। उसके बाद एक दिन माँ-काली की विशेष पूजा की व्यवस्था करके माँ मुझे काली-मन्दिर में ले गयीं। पुजारी ने पूजा समाप्त करने के बाद एक नहरनी लाकर दिया। माँ ने अपने हाथ से उसके द्वारा सीने से एक बर्तन में रक्त निकाला। उसे ले जाकर पुजारी ने जगदम्बा को अर्पित किया। ऐसी स्नेहमयी माँ के ऋण का क्या शोधन किया जा सकता है ! हाँ, इस प्रकार स्नेहमयी गर्भधारिणी द्वारा अपने हृदय के रक्त के साथ जो जगदम्बा काली के चरणों में जीवन समर्पित किया, वह सचमुच ही आजीवन उन्हीं का होकर रहा और इसीलिये आज संन्यासी है।

चन्दननगर की एक स्मृति – भरोसा

मकान के सामने फूल का उद्यान था। उसके बाद मुख्य द्वार ग्रैंड ट्रंक रोड पर खुलता था। बड़ी चहारदीवारी थी। उस चहारदीवारी के बाहर उत्तरी कोने पर सड़क के किनारे खर से बनी हुई एक छोटी-सी दो कमरों की झोपड़ी थी। उसमें एक तांत्रिक भैरव एक भैरवी के साथ निवास करता था। वैसे दोनों ही शान्त स्वभाव के थे। मंत्र-तंत्र, झाड़-फूँक, गण्डा-ताबीज, ग्रहशान्ति आदि करना उनका व्यवसाय था। माँ बीच -बीच में उन लोगों को सीधे का सामान दे दिया करती थीं। फल-फूल शाक-सब्जी भी देतीं। भैरवी आकर ले जाती।

एक बार बात फैली कि वह तांत्रिक 'निशा-जागरण' करेगा। एक धनाढ्य साहा की इकलौती कन्या को टी.बी. (राजयक्ष्मा) हुआ था, उसी को बचाने के लिये वह श्मशान में उपचार करेगा।

स्वनामधन्य कानाई दत्त (क्रान्तिकारी) और चारुचन्द्र बोस मास्टर घर-घर में जाकर सभी को सतर्क कर दे रहे हैं कि रात में किसी के पुकारने पर – एक बार पुकारने पर कोई उत्तर न दे। क्योंकि तंत्र-क्रिया में बताया गया है कि रात में एक बार पुकारने पर जवाब देने से उसके प्राण मंत्रपूत जलपात्र में आबद्ध हो जाते हैं और उसकी जगह पर वह नीरोग हो जाता है और जिसने उत्तर दिया है, वह बीमार होकर धीरे-धीरे सूखकर मर जाता है।

सुनकर घर के सभी लोग भय से बेचैन हो गये, पर घर का बिहारी नौकर – भरोसा को किसी ने इस बात की सूचना नहीं दी थी। भरोसा बड़ा ही सज्जन व्यक्ति था। सरल और खूब बलवान था। वह करीब आधे मील दूर से बहँगे पर गंगाजल ले आता – बड़े-बड़े दो घड़ों में तीन बार। हम लोग गंगाजल ही पीया करते थे। उसके बाद वह सारे दिन चुपचाप घर तथा बगीचे के सारे काम किया करता था। गाय दूहता, बाजार से अनाज आदि आवश्यक चीजें ले आता। सर्वदा प्रसन्न रहता। मुख बन्द किये सारे कार्य सम्पन्न करना ही उसका स्वभाव था। घर के बाहर वह नहीं जाता था और अपने अंचल के लोगों के साथ भी घनिष्ठता नहीं रखता था। सच्चरित्र 'भरोसा' उस तांत्रिक का शिकार हो गया।

बड़े भैया को रोज रात क्लब जाने की आदत थी और वे रात को एक-डेढ़ बजे घर लौटते। भरोसा रोज दरवाजा खोल देता और इसीलिये वह जागता रहता। उस दिन भी वह रोज के जैसा जगा हुआ था और ठीक भैया के समान ही गले की पुकार सुनकर – "जी हाँ, आता हूँ" – कहते हुए उसने दरवाजा खोलकर देखा, तो वहाँ कोई नहीं था। ठीक उसके बाद ही भैया आये। भरोसा ने उनसे पूछा – "अभी-अभी आपने मुझे पुकारा और उसके बाद कहाँ चले गये थे? दरवाजा खोलने पर आप दिखाई नहीं दिये।"

भैया चुप रह गये, उसे कुछ बताया नहीं। अगले दिन सुबह उन्होंने सबको बताया और भरोसा को कुछ भी न बताने को कहा, क्योंकि वह भय से ही मर जाता।

परन्तु सचमुच दो-तीन दिनों के भीतर ही देखने में आया कि उसके शरीर में वह स्फूर्ति नहीं रह गयी है, भूख घट गयी है और वह पहले के समान कार्य नहीं कर पा रहा है। इसके बाद उसे अपच का रोग शुरू हुआ और खूब दस्त होने लगे। तब माँ ने जाकर उस तांत्रिक को खूब फटकार लगायी और यह भी कह दिया – "इस निर्दोष व्यक्ति का सर्वनाश करने से तुम्हारा कभी भला नहीं होगा। उसे ठीक कर दो।" धीरे-धीरे यह समाचार कानाई दत्त की पार्टी के लोगों को भी ज्ञात हुआ और उन लोगों ने एक रात उस तांत्रिक की अच्छी पिटाई की और उसके सिद्ध आसन आदि को तोड़ दिया।

अगले दिन तांत्रिक ने उस साहा परिवार को बताया और जिस धन – दस हजार रुपयों का वचन दिया गया था, उसकी माँग की। उनकी पुत्री अब काफी स्वस्थ महसूस कर रही थी। सुनने में आया कि साहा ने उससे कहा कि पूरी तौर से नीरोग हुए बिना वह रुपये नहीं देगा। इसके फलस्वरूप दुःख के साथ वह कहीं चला गया।

बालिका ज्यों-ज्यों नीरोग होती गयी, भरोसा त्यों-त्यों बीमार होता गया। करीब दो महीने में ही क्रमश: सूखकर काठ जैसा हो गया। वह छुट्टी लेकर घर चला गया। वहाँ की डॉक्टरी चिकित्सा और गाँव में प्रचलित उपचार से भी वह ठीक नहीं हुआ और उसी प्रकार उसकी मृत्यु हो गयी।

सुनने में आया कि उस बालिका के पूरी तौर से स्वस्थ हो जाने पर वह तांत्रिक फिर आया था, परन्तु साहा ने उसे कुछ दिये बिना ही भगा दिया था।

१०-१२ वर्ष तक वह गायब रहा। उसकी भैरवी पगली जैसी होकर कोलकाता के नीमतला घाट पर रहने लगी। वहाँ एक दिन उसने उस तांत्रिक को देखा – वह पूरी तौर से उन्माद अवस्था में था, अस्थि-पंजर मात्र ही बच रहे थे। वहाँ भैरवी ने अपने भिक्षा आदि में प्राप्त अन्न आदि के द्वारा उसकी कुछ दिन सेवा की थी। बाद में वहीं पर तांत्रिक की मृत्यु हो गयी। अन्तिम दिनों में वह कहा करता – "मेरे ही पाप का फल है – मेरे ही पाप का फल है!" अस्तु।

शिवपूजा और ब्रह्मदैत्य

एक बार जाड़ों की छुट्टी में जलवायु-परिवर्तन हेतु झारखण्ड में मधुपुर के निकट स्थित 'गिरिडीह' जाना हुआ। उस समय तक गिरिडीह तक रेल लाइन नहीं हुई थी। उन दिनों गिरिडीह में केवल दो ही मकान थे – सम्भवत: दोनों ही हुसैन मियाँ के थे। एक में वे स्वयं रहते और दूसरा किराये पर देते। मकान छोटा होने के बावजूद बुरा नहीं था। हुसैन मियाँ के पास ऊँटगाड़ी भी थी, हजारीबाग आदि स्थानों में जाने के लिये उसी में जाना पड़ता था।

मकान ऊँची चहारदिवारी से घिरा हुआ था, क्योंकि उन दिनों उधर बाघों का बड़ा आतंक था। रात में दुमंजले की खिड़की से प्राय: ही देखने में आता कि बाघ चहारदीवारी के पास से होकर चक्कर लगा रहा है। माँ हमें दिखातीं और कुछ बोलने से मना करतीं। संथाल लोग जब मशाल लिये अभ्रक की खानों से गाँव में लौटते, तो उनकी चिल्लाहट सुनकर बाघ चला जाता।

पास ही एक छोटी-सी पहाड़ी नदी थी। उसका पानी कांच के जैसा स्वच्छ था। किन्तु पास में गड्ढा खोदकर बालू से छानकर उसी में से पीने का पानी लाया जाता। स्नान आदि नदी के जल में ही किया जाता। निकट ही एक कुँआ भी था। वह वर्षा के समय काम में लगता, स्नान आदि भी किया जाता था।

नदी की पाट पर विभिन्न आकारों तथा रंगों के बहुत-से छोटे-बड़े पत्थर बिखरे हुए दीख पड़ते थे। सुन्दर रंग तथा सुन्दर आकार के पत्थरों को एकत्र करना हमारे खेल का एक अंग हो गया था। सभी की बाल्यावस्था थी। मकान के आंगन में वैसे ही पत्थरों की ढेर बनाकर खूब खेल होता। उनमें से शिवलिंग के आकार के सुन्दर-सुन्दर ५-६ पत्थर चुनकर मैंने पूजा के लिये रख लिये थे।

एक माह बाद घर लौटते समय हम उन सब पत्थरों को एक बक्से में भर कर ले आये। इसके बाद उद्यान में जो बेल का पेड़ था, मैंने उसके नीचे मिट्टी डालकर और सफाई करके नित्य शिव-पूजा आरम्भ की। भानजा भोलानाथ और बीच-बीच में छोटी दीदी (मुझसे आयु में दो वर्ष बड़ी) से इस कार्य में विशेष सहायता मिली थी। अमरूद, केले आदि फलों का यथारीति भोग दिया जाता। मैं केले के पत्ते पर भोग रखता। शिव का आह्वान करके उनसे भोजन करने को कहकर थोड़ी दूरी पर दूसरी ओर मुख करके थोड़ी देर खड़ा रहता। उसके बाद घर के सभी लोगों को प्रसाद बाँटने के बाद स्वयं भी ग्रहण करता।

माँ के आदेश पर बड़ी भाभी बीच-बीच में पपीता भी काट देतीं। एक दिन छोटी दीदी ने कहा कि वे मेरे भोग के लिये भण्डार से फल ला देंगी। वे ले आयीं, परन्तु फल बड़े नरम हो गये थे और उनमें से कुछ तो सड़ जैसे गये थे। तत्काल आपत्ति की गयी कि ऐसे फल भगवान को भोग में नहीं देने चाहिये। परन्तु वे बोलीं – भाभी ने कहा है कि खेल -घर की पूजा में ऐसे फल भी चल जाते हैं। उस दिन उन्हीं को वह सब यथारीति भोग देने के लिये कहकर मैं स्वयं मन-ही-मन भगवान से – शिवजी से क्षमा माँगते हुए बोला – "दीदी ऐसे फल लायी है, इसके लिये हमारे दोष पर ध्यान मत देना।"

पूजा सम्पन्न हो जाने के बाद सभी लोग वृक्ष की एक मोटी-सी जड़ के ऊपर सिर रखकर प्रणाम किया करते थे। भानजा और मैं प्रणाम करके उठे। छोटी दीदी ज्योंही प्रणाम करने गयी, बड़े जोर से तीन बार सिर को पटक दिया, इतने जोर से कि वे नीली पड़कर बेहोश हो गयीं। भानजा दौड़कर घर में गया और इसकी सूचना देने पर माँ तथा भरोसा नौकर आये और छोटी दीदी को घर में ले गये। उसके बाद हम दोनों को बुलाया गया। सब कुछ सुनने के बाद माँ थोड़ी देर चुप रहीं। उस समय दीदी के सिर के एक कोने पर बर्फ घिसा जा रहा था।

अगले दिन पूजा करने गया, तो देखा कि वहाँ शिव-लिंग और पत्थर आदि कुछ भी नहीं है। मैं खूब रोया, परन्तु वह सब फिर मिला नहीं। और उस बेल के पेड़ पर ब्रह्म-दैत्य रहता है, अनिष्ट कर सकता है, इसीलिये माँ ने मुझे वहाँ जाने से मना किया।

सचमुच ही उस बिल्व वृक्ष पर कोई देवता या ब्रह्म-दैत्य थे। उसका प्रमाण यह है कि प्रति वर्ष रथयात्रा के समय रथ को लाकर उसी वृक्ष के पास आकर चहारदीवारी से लग जाता या खड़ा हो जाता। किसी भी प्रकार दूसरी ओर खींचकर रखा नहीं जा सकता था। ग्रैंड ट्रंक रोड़ चन्दननगर का काफी चौड़ा मार्ग है, अत: वहाँ वैसा न होने की ही बात थी, परन्तु रथ प्रति वर्ष वहाँ खड़ा होता ही था।

स्नेहमयी माँ की मृत्यु

तीन महीने से भी अधिक काल तक घर में बीमारी का दौर चला। पहले बड़े भैया को टायफायड हुआ। उनके ठीक

होने के बाद पिताजी बीमार पड़ गये। वे स्वस्थ हो रहे थे कि मुझे टाइपो-निमोनिया हो गया। उस समय किशोरावस्था थी। होम्योपैथी चिकित्सा से थोड़ा सुधार हुआ, तो माँ बीमार पड़ गयीं। उन्हें बुखार जैसा लग रहा था और पेचिश हुआ। क्रमागत रात्रि-जागरण, असमय स्नान तथा भोजन या उपवास – ऐसा कई महीनों से चल रहा था। और इसके ऊपर चिन्ता का कोई अन्त न था। वे रात-दिन देवी-देवताओं से प्रार्थना करतीं, पूजा-चढ़ावा भेजतीं – उनकी केवल एक ही कामना थी कि सभी लोग नीरोग हो जायँ।

सहसा उनके पेचिश ने उग्र भाव धारण किया और आँव के साथ काले रंग का खून भी आने लगा। वे बड़ी दुर्बल हो गयीं और बिस्तर पकड़ लिया।

शुक्रवार का दिन था। पिताजी ने केवल झोल-भात खाया था। डॉक्टर सबको देखकर चले गये। माँ को देखकर उन्होंने कहा था – चिन्ता की कोई बात नहीं है, केवल दुर्बलता ही बढ़ी है। डॉक्टर के जाने के बाद माँ ने बड़े भैया को बुलवाया। घर में केवल उन्हीं का स्वास्थ्य ठीक था और कुस्तीबाज होने के कारण खूब बलवान भी थे। माँ बोलीं – ''आज शाम को चार बजे के बाद यदि मुझे पाँच मिनट भी रख सको, तो फिर मैं एक सौ वर्ष जीऊँगी।'' सबने कहा – ''आप ऐसा क्यों बोल रही हैं? ऐसा नहीं कहना चाहिये।'' मैं भी अत्यन्त दुर्बल तथा बिस्तर पकड़े हुए था। मेरे भी कानों में यह बात आयी। माँ दूसरे कमरे में थीं।

अपराह्न के तीन बजे सबको बुलाया गया। माँ सज्ञान-पूर्वक सबको पास बैठाकर कर्तव्य समझाने लगीं – किसको क्या देना-वेना होगा, कहाँ क्या रखा है, आदि आदि। पास में केवल मैं (लक्ष्मीनारायण) ही नहीं था। मेरे दुर्बल होने के कारण मुझे नहीं बुलाया गया या कोई ले नहीं गया था।

दादी पास में ही बैठी थीं। साढ़े तीन बजे वे उनसे कहने लगीं – ''वह देखो माँ, मुझे लेने आया है। वह जो लाल रेशमी कपड़े पहने सुन्दर युवक है, आकर बड़े सन्दूक पर हाथ टेककर खड़ा है। वह रहा!'' दादी, पिताजी या अन्य कोई भी नहीं देख सका। घड़ी की ओर देखते हुए – ''चार तो अभी नहीं बजा।'' उसके बाद – ''अब और संसार की बातें नहीं।... माँ मुझे क्षमा करो – सम्भव है भूल-भ्रान्ति हुई हो, उनसे तुम्हें कष्ट पहुँचा हो।'' अन्य सभी से – ''परन्तु याद न रखना कि कब किसको कष्ट दिया है।'' पिताजी के प्रति – ''जाने-अनजाने जो अनेक दोष-त्रुटियाँ हुई हैं, उनके लिये तुम मुझे क्षमा करो।'' उसके बाद – ''लक्ष्मी नारायण को यहाँ ले आओ, जरा उसे देख लूँ।'' मुझे हाथ पकड़कर ले जाया गया। उन्होंने पास खींचकर ठुड्डी पकड़कर स्नेह किया – चुम लिया। सिर पर हाथ फिराकर आशीष दिया। उसके बाद मुझे ले जाने को कहकर मौन हो गईं। बस, यही अन्तिम बात थी और यही अन्तिम कार्य था।

घड़ी में ठीक चार बजे और पिताजी कह उठे – ''वह गयी!'' उन्होंने देखा – हरित पिंगल वर्ण का अंगूठे के आकार की ज्योति – नेत्र के मार्ग से निकल गयी। नेत्र पूरे खुलकर फिर सदा के लिये मुँद गये।

जब श्मशान-यात्रा के रूप में उन्हें गंगा के किनारे ले जाया गया, उस समय घर में केवल महिलाएँ और मैं रह गये। बगीचे के पास एक बागदी आदिवासी बुढ़िया रहती थी। वह चीत्कार करती हुई रोने लगी। माँ सर्वदा ही उसकी सहायता किया करती थीं। खूब देतीं और अन्न-वस्त्र आदि भी देतीं। उसके और कोई भी नहीं था।

वृद्धा बोली – ''ओ माँ, तुमने बोलने से मना किया था, लेकिन तुम स्वयं ही चली गयी, हम लोगों को निराश्रय करके चली गयी!'' आदि आदि। – ''माँ ने क्या कहने से मना किया था?'' – पूछने पर उसने बताया – मृत्यु के तीन-चार दिन पूर्व बीमार होने के बावजूद माँ उसे साथ लेकर बगीचे के दूसरे छोर पर रहने वाले एक पीड़ित ब्राह्मण को देखने गयी थीं। बेड़े का द्वार खोलकर ब्राह्मण के घर जा रही थीं, उसी समय लाल रेशम का वस्त्र पहने एक युवा ब्राह्मण आकर बोला – ''माँ, कहाँ जा रही हो? तुम तो शुक्रवार को गंगा-स्नान करने जाओगी – शाम को चार बजे। यह बात यदि तुम किसी से कहोगी, तो जो दो लोग बीमार हैं, उनमें से एक चला जायेगा और तुम सौ वर्ष तक बची रहोगी।'' इसीलिये मैंने यह बात किसी को नहीं बताया। माँ ने अपने सिर की सौगन्ध दिलाई थी।

वह घटना मृत्यु के तीन दिन पूर्व हुई थी और चौथे दिन शुक्रवार को ठीक चार बजे उन्होंने प्राणत्याग किया।

वृद्धा बोली – ''सहसा यह बात कहकर वह युवक तेजी से चला गया – बाद में तलाश करने पर भी उसे फिर पाया नहीं जा सका।'' तो क्या वह रेशमी वस्त्र पहने युवक मृत्यु के पूर्व उन्हें बुलाने आया था! वह कौन था?

माँ के देहत्याग के तीन दिन बाद ही वाराणसी जाना हुआ। श्राद्ध आदि वहीं किया गया। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व से ही वे – ''काशी जाऊँगी, काशी जाऊँगी'' – कहा करती थीं, इसीलिये श्राद्ध के लिये हम लोग काशी गये।

❖ (क्रमशः) ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (२५)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

भक्ता एकान्तिनो मुख्या:।।६७।।

अन्वयार्थ – **एकान्तिन:** – एकनिष्ठ प्रेमवाले, **भक्ता:** – भक्तगण, **मुख्या:** – मुख्य हैं।

अर्थ – मुख्य भक्त वे हैं, जो एकनिष्ठ प्रेम रखते हैं।

जो ईश्वर के लिये ईश्वर-प्रीत्यर्थ एकनिष्ठ प्रेम रखते हैं – वे मुख्य भक्तजन हैं। 'मुख्य' का अर्थ है सर्वोच्च कोटि के। यहाँ दो बातों का उल्लेख किया गया है। प्रेम एकनिष्ठ होना चाहिये अर्थात् प्रेम कई चीजों पर बिखरा हुआ न हो, दूसरे शब्दों में प्रेम के अनेक विषयों में ईश्वर भी एक न हो। मन को पूरी तौर से ईश्वर के प्रति ही समर्पित होना चाहिये। इसमें किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु के लिये कोई भी जगह नहीं है।

तो क्या भक्त दूसरों के प्रति उदासीन हो जायेगा? ऐसी बात नहीं। अन्य लोग तभी तक उसके प्रेम के विषय होते हैं, जब तक वह उनमें ईश्वर को देखता है। वह लोगों को उनके बाह्य रूप के कारण प्रेम नहीं करता, बल्कि इसलिये प्रेम करता है कि उनमें ईश्वर ही व्यक्त हुए हैं, अत: वह अन्य सभी लोगों के प्रति उदासीन नहीं होगा, बल्कि यहाँ तो इस बात पर बल दिया गया है कि उसकी भक्ति एकनिष्ठ होनी चाहिये। वह अन्य अनेक चीजों में बिखरी हुई नहीं होनी चाहिये। बाइबिल में कहा गया है – 'मैं ईर्ष्यालु ईश्वर हूँ।' ईश्वर किसी ऐसे सहभागी को सहन नहीं करता, जो भक्त के प्रेम के अंश को ग्रहण कर ले और बचा हुआ अंश ईश्वर को मिले। ईश्वर को पूरे हृदय पर अधिकार करना है, या फिर वह बिल्कुल भी नहीं आना चाहता। वे हमारे प्रेम के एक अंश मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो सकते, जिसका बाकी अंश सांसारिक वस्तुओं को दे दिया गया हो। एक महान् भक्त से ऐसी अपेक्षा नहीं रहती। उसे एकनिष्ठ ही होना चाहिये।

इसमें निहित दूसरी बात यह है कि भक्त ईश्वर को केवल ईश्वर के लिये ही प्रेम करता है। वह ईश्वर को किसी अन्य लक्ष्य का साधन नहीं मानता। वह ईश्वर से केवल इसलिये प्रेम करता है कि वे ईश्वर हैं, अन्य किसी भी कारण से नहीं। अत: यह प्रेम इसलिये नहीं होगा कि ईश्वर उसे दुख-कष्ट से बचा लेंगे। भक्त का प्रेम पूर्णत: नि:स्वार्थ हो, केवल ईश्वर प्रीत्यर्थ हो। इसके मन में ऐसा भी विचार नहीं होना चाहिये कि इससे उसे शान्ति या सुख मिलेगा, क्योंकि वह स्वार्थपरता होगी। उसमें किसी व्यक्ति के अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य का कोई भाव नहीं होना चाहिये। शुद्ध प्रेम का अर्थ है – ऐसा प्रेम जिसमें कोई अप्रत्यक्ष या गुप्त उद्देश्य न हो। यह प्रेम एकनिष्ठ होना चाहिये – केवल ईश्वर के प्रति होना चाहिये।

कण्ठावरोध-रोमांचाश्रुभि: परस्परं लपमाना:
पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ।।६८।।

अन्वयार्थ – **कण्ठावरोध:** – गद्‌गद कण्ठ, **रोमांच-अश्रुभि:** – आँसुओं सहित रोमांच के साथ, **परस्परम्** – आपस में, **लपमाना:** – वार्तालाप करते हुये, **कुलानि** – अपने कुलों को, **पृथिवीम् च** – और संसार को, **पावयन्ति** – पवित्र करते हैं।

अर्थ – ऐसे भक्तगण गद्‌गद कण्ठ होकर, प्रेमाश्रु सहित रोमांचित होकर आपस में वार्तालाप करते हुये अपने परिवारों और संसार को भी पवित्र करते हैं।

भगवद्-भक्तगण कैसा आचरण करते हैं? नारद कहते हैं कि ऐसे भक्त अन्य भक्तों के साथ आपस में भक्ति या ईश्वर के बारे में चर्चा करके भावों का आदान-प्रदान करते हैं। ऐसा करते समय उनका कण्ठ गद्‌गद हो जाता है। जब प्रेम का भाव चरम हो जाता है, तो व्यक्ति बोलने में असमर्थ हो जाता है। मन के ईश्वरोन्मुख हो जाने पर बातें प्राय: बन्द हो जाती हैं, अर्थात् भक्त भाव से गद्‌गद-कण्ठ हो जाता है। चरम भाव का उद्रेक होने के कारण उसे रोमांच होगा। इतना ही नहीं, कहते हैं कि ऐसे भक्त के सिर के केश भी खड़े हो जाते हैं। आपने शरीर के रोमांचित होने का अनुभव किया होगा। भावना चरम सीमा पर पहुँच जाये, तो दैहिक बदलावों का अनुभव होता है। अश्रु भी एक अन्य अभिव्यक्ति है।

ये सब भक्त के बाहरी लक्षण हैं। ध्यान रखिये कि भक्त इन लक्षणों का अभ्यास नहीं करता, अपितु ये स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं। अन्यथा क्या होता है? भक्ति में इनका ढोंग या स्वाँग हो जाता है लोग अपने भावों का उद्रेक करने का प्रयास कर सकते हैं और उस भाव में कभी-कभी उनके नेत्रों से अश्रु गिरने लगते हैं। पेशेवर अभिनेता ऐसा ही करते हैं। कभी-कभी वे ऐसा करने के लिये नकली साधनों का प्रयोग करते हैं, किन्तु ऐसा इसलिये होता है क्योंकि वे अपनी भूमिका का निर्वाह करने में पूर्णतया सक्षम नहीं होते। इस प्रकार, बहुत सक्षम अभिनेतागण जरूरत होने पर अश्रुपात भी कर सकते हैं। किन्तु वह तो मात्र प्रदर्शन है – प्रेम नहीं।

भक्त अश्रुपात करने की इच्छा नहीं रखता और न तो वह उन प्रभावों को उत्पन्न करने का ख्याल या विचार ही रखता है। वे सब अपने आप ही आते हैं।

फिर, भक्ति में अन्य बाह्य लक्षण भी होते हैं। उसमें स्वेद हो सकता है, शरीर में पुलक हो सकता है। ये सब भक्ति के उच्चतम कोटि के लक्षण माने जाते हैं। किन्तु इसमें सतर्कता बरतनी चाहिये। इन्हें भी कृत्रिम रूप से प्रकट किया जा सकता है। यदि ऐसा हुआ, तो फिर सच्चे प्रेम या भक्ति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

एक बार ऐसा हुआ कि स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य को अकेले में बैठकर भक्ति के उन लक्षणों को उपार्जित करने का प्रयास करते हुये देखा, जो श्रीरामकृष्ण में दिखाई देते थे। स्वामीजी जान गये कि वह गलत कदम था और उन्होंने उसे फटकारते हुये कहा, "इन चीजों का अभ्यास करने की जरूरत नहीं है, प्रेम का अभ्यास करो। फिर अन्य बातें अपने आप ही आ जायेंगी। श्रीरामकृष्ण के शरीर में ये सब लक्षण इसलिये नहीं प्रकट हुये थे कि वे उनको अभिव्यक्त करना चाहते थे। भाव का चरमोत्कर्ष होने पर वे लक्षण स्वाभाविक रूप से आते थे।" अत: इस सतर्कता को ध्यान में अवश्य रखना है। ये सब बाहरी लक्षण हैं और अनिवार्य नहीं हैं। अर्थात् इन लक्षणों को देखने पर हम यह सोचकर धोखा न खा जायँ कि वे सच्ची भक्ति के लक्षण हैं। नहीं, ऐसा नहीं है। फिर भी भक्ति की चरम अवस्था में भक्त में ये लक्षण प्रकट होते हैं। भक्तगण आपस में अपने प्रिय ईश्वर के बारे में चर्चा करते हैं, क्योंकि भाव का आधिक्य होने पर भक्त समान भाव रखने वाले भक्तों से वार्तालाप करना चाहता है और उनको इसमें आनन्द मिलता है। तात्पर्य यह है कि वे भक्तगण अपनी भक्ति का प्रदर्शन करके इठलाते नहीं, बल्कि अकेले या अन्य भक्तजनों के संग ईश्वर-चिन्तन करते समय और ईश्वर-विषयक चर्चा होने पर वे अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं और ऐसा करने पर शरीर में अश्रु, रोमांच, पुलक इत्यादि बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं। ये सभी विभिन्न लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

ऐसे भक्तजन अपने परिवार को तो पवित्र करते ही हैं, साथ ही वे संसार को भी पवित्र करते हैं। उनके भीतर ऐसी महान् आध्यात्मिक शक्ति रहती है कि वह शक्ति उस पूरे परिवार का काया-पलट कर देती है, जिसमें उनका जन्म होता है। इतना ही नहीं, ऐसे महान् ईश्वरानुरागियों की उपस्थिति से सारा संसार लाभान्वित होता है।

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि
सच्छास्त्री कुर्वान्ति शास्त्राणि ।।६८।।

अन्वयार्थ – **तीर्थी-कुर्वन्ति** – तीर्थ या पवित्र बना देते हैं, **तीर्थानि** – तीर्थ स्थानों को, **सुकर्मी-कुर्वन्ति** – सुकर्म बना देते हैं, **कर्माणि** – कर्मों को, **सत्-शास्त्री-कुर्वन्ति** – पवित्र बना देते हैं, **शास्त्राणि** – शास्त्रों को।

अर्थ – (ऐसे भक्तजन) तीर्थों को और अधिक पवित्र, कर्मों को सुकर्म और शास्त्रों को और भी पवित्र बना देते हैं।

जब किसी भक्त में यह प्रेम जाग्रत होता है, तो उस प्रेम के जागरण द्वारा उस भक्त का साहचर्य प्राप्त करनेवाले स्थल पवित्र हो जाते हैं और तीर्थ भी पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ ऐसे स्थान होते हैं, जो ऐसे महान् ईश्वरानुरागियों की उपस्थिति से धन्य रहते हैं। कोई भी तीर्थ सदा किसी महान् ईश्वरानुरागी के साहचर्य से पवित्र हुआ रहता है। ऐसे पवित्र लोग जहाँ कहीं भी रहते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है, तीर्थ बन जाता है। ईश्वरानुरागियों में ऐसी ही शक्ति होती है। अन्य लोग उनका आश्रय इसलिये प्राप्त करेंगे, ताकि वे उस पवित्रता का अंश आत्मसात् कर सकें। इसी कारण तो हम तीर्थों में जाते हैं। भक्तगण अपने सभी कर्मों को धन्य बनाकर और सभी कर्मों को सत्कर्म और अच्छा बनाकर उनका रूपान्तरण कर देते हैं। तब वे जो भी कर्म करते हैं, वह सत्कर्म हो जाता है। वे शास्त्रों को और अधिक पवित्र बना देते हैं। अभिप्राय यह है कि शास्त्रों में आपको उपयोगी तथा अनुपयोगी बातें एक साथ मिश्रित रूप में मिलेगी। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि शास्त्रों में बालू और चीनी एक में मिले हुये रहते हैं। इसलिये शास्त्रों के प्रति उनकी सत्यनिष्ठा के कारण शास्त्र पवित्रता से अलंकृत हो जाते हैं। शास्त्र पवित्र क्यों हैं? इसलिये कि साधु-सन्तों ने उनके प्रति अपनी निष्ठा अर्पित की है। अत: इन भक्तों द्वारा शास्त्र भी पवित्र बना दिये जाते हैं। साधु-सन्त शास्त्रों की सजीव व्याख्या होने के कारण शास्त्रों को जीवन्त बना देते हैं। यदि ऐसे उदात्त भक्तजन न रहते, तो शास्त्र हमारे लिये व्यावहारिक रूप से निरर्थक ही बने रहते।

इस प्रकार भक्तों के रहने के स्थान उनकी आत्मा या भाव से व्याप्त हो जाते हैं, उनके द्वारा निष्पादित कर्म, उनके साहचर्य के कारण, पवित्र हो जाते हैं। शास्त्र इसलिये पवित्र हो जाते हैं, क्योंकि वे शास्त्रों को श्रद्धा समर्पित करते हैं। यदि शास्त्रों को प्रामाणिक बनाने के लिये, उनमें विश्वसनीयता प्रदान करने हेतु समय-समय पर ऐसे लोगों का जन्म न हो, तो शास्त्र अनुपयोगी ही बने रहते। शास्त्र इसलिये प्रामाणिक बन जाते हैं, क्योंकि वे ऐसे साधु-साध्वियों के जीवन द्वारा (दृष्टान्त के रूप में) प्रदर्शित और प्रमाणित होते हैं।

तन्मया: ।।७०।।

अन्वयार्थ – **तत्** – उसमें, **मया:** – लीन होते हैं।

अर्थ – (क्योंकि) वे (भक्त) दिव्यता में तन्मय होते हैं।

❖ **(क्रमश:)** ❖

ईशावास्योपनिषद् (२३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

संसार की चेतना हमें अविद्या से मिलती है। अविद्या ने हमारी चेतना को इस संसार में डूबाकर रखा है। अविद्या का दूसरा पक्ष विद्या से हम अपने मन को समझा लेते हैं कि अरे इसमें क्या बुरा है ! संसार में सभी लोग ऐसा करते हैं। बिना धन के काम नहीं चलता है। दुनिया में रहना है, तो ऐसा करना ही पड़ेगा इत्यादि। मनुष्य के आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत थोड़े से हो जाती है, किन्तु जिसके लिये उसने इतना बड़ा आयोजन किया। अन्त में वह देह भी नहीं रही। तो इससे क्या लाभ हुआ। चेतना में परिवर्तन लाने के लिये उपनिषद ने हमें यह उपाय बताया है। देखो, विद्या और अविद्या का अन्तर समझो, उसका क्या परिणाम होगा इस पर विचार करो। विद्या और अविद्या का उपयोग करके मुक्ति की ओर बढ़ो। उसी प्रकार प्रकृति, ब्रह्म, सम्भूति-असम्भूति को समझो, उसकी उपासना से मिलने वाले फल को समझो और यह जानो कि इन दोनों का उपयोग कैसे करना है। उपनिषद की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उसने किसी चीज को नकारा नहीं है। उपनिषद कहता है, विचार करो, 'परीक्ष्य लोकान् कर्म चितान् – कर्म से उत्पन्न सभी लोकों आदि की परीक्षा करो और विचार करो। यह उपनिषदों की सबसे बड़ी देन है। जगत् में जो कुछ तुमको दिख रहा है, वह कैसा है? क्या है? इसको जानो और उसके परिणाम पर विचार करो। इस संसार के पीछे क्या तत्त्व है, यह उपनिषद ने बताया है, पहले उसको जानो, फिर कर्म करो। जब हम विचारपूर्वक कर्म करने लगेंगे तो हमें कुछ छोड़ना नहीं पड़ेगा। हम उसका अतिक्रमण कर जायेंगे। जब हम समझ जायेंगे कि यह हमारे जीवन के लिये उपयोगी नहीं है, तब वह अपने-आप छूट जायेगा। छोटा बच्चा कंकड़-पत्थर पॉकेट में रख लेता है और उससे खेलता है, किन्तु वही जब बड़ा होता है, तो उसे फेंक देता है। उसको यह कहना नहीं पड़ता है कि तुम इसे फेंक दो। उसने समझ लिया कि यह व्यर्थ है। उसी प्रकार जब संसार की व्यर्थता समझ में आ जायेगी, तब वह अपने आप छूट जायेगा।

किन्तु उसके लिये जो खतरे बताये गये हैं, उस पर विचार करना पड़ेगा। आठवें मन्त्र में बताये गये तत्त्वों पर चिन्तन करना होगा तुम शुद्ध हो, पापरहित हो, मनीषी हो, कवि हो आदि। जब हम इन पर गम्भीरता से विचार करेंगे, तभी चेतना में परिवर्तन आयेगा। चेतना में परिवर्तन बिना गहन विचार के नहीं आ सकता। जन्म-जन्मान्तरों की तपश्चर्या से ऋषियों ने हमें बताया है – श्रोतव्यम् मन्तव्यम् निदिध्यासितव्यम् – सुनो, मनन करो और फिर उस सिद्धान्त पर पहुँचकर उसका ध्यान करो। श्रवण-मनन-निदिध्यासन की जो यह प्रकिया है वह व्यर्थ नहीं है। हमारे जीवन में इससे निश्चित ही परिवर्तन आयेगा। सभी महात्माओं ने दावे के साथ कहा है कि इस प्रकार मनन करने से ही बहुत से दोष अपने-आप छुट जाते हैं। उदाहरणार्थ – किसी व्यक्ति को तम्बाकू खाने की आदत है। किन्तु उसने इस पर विचार किया। उसके बारे में पढ़ा और उससे होनेवाले परिणामों के बारे में सोचना शुरु किया। अब यदि वह चाहे तो तम्बाकू खाना छोड़ सकेगा। यदि कोई व्यक्ति ऐसा विचारकर इस प्रकार के भोगों को छोड़ सकता है, तो वह ईश्वर की कृपा से संसार की माया को भी छोड़ सकता है। काम-कंचन से भी दूर हो सकता है। किन्तु इसके लिये श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके अपनी चेतना में परिवर्तन लाना होगा और ईश्वर-प्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा अपने अन्दर जागृत करनी होगी।

अब अगले १५वें श्लोक में ऋषि यह बताते हैं कि साधक को कैसे परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे वह अन्त में परमात्मा को प्राप्त कर सके –

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पुषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। १५।।

– हे पुषन् या परमात्मा ! आप सत्यस्वरूप हैं। आपका श्रीमुख स्वर्णमय ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। सत्य की साधना करने वाले, मुझ साधक को अपना दर्शन कराने के लिये उस आवरण को आप हटा लें।

इस पन्द्रहवें मन्त्र में साधक या उपासक की प्रार्थना का वर्णन है। ऐसा साधक जिसने अपने जीवन का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार या ईश्वर-प्राप्ति ही निर्धारित कर लिया है अर्थात् उसके जीवन का परम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार या ईश्वर-प्राप्ति ही है।

साधक पुषन् से प्रार्थना कर रहा है। पुषन् का अर्थ होता है जगत का पोषण करने वाला। आचार्यगण हमें बताते हैं कि पुषन् का एक अर्थ सूर्य भी होता है।

यहाँ पुषन् का अर्थ यदि हम अपने सूर्यमण्डल से लें, तो

वह अर्थ अधूरा या सीमित हो जायेगा। क्योंकि पुषन् को सारे जगत् या विश्व-ब्रह्माण्ड का पोषण करने वाला कहा गया है। वह न केवल हमारे ही सौर-मण्डल और सूर्य का पोषण करता है, अपितु विश्व-ब्रह्माण्ड में जो अनन्त कोटि सौर-मण्डल हैं, उनका भी पोषण करता है। इसलिये यहाँ पुषन् का अर्थ ईश्वर या परमात्मा ही लेना उचित होगा। क्योंकि परमात्मा ही समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का पोषक हो सकता है।

साधना करते-करते साधक का चित्त ज्यों-ज्यों शुद्ध होता जाता है, वह विभिन्न प्रकार के उच्च-से-उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियाँ करने लगता है। किन्तु साधक के जीवन में एक ऐसी अवस्था भी आती है, जब वह यह अनुभव करता है कि एक स्थिति के बाद अनुभूति के और भी उच्च शिखरों पर चढ़ने में वह अपनी साधना से कदापि समर्थ नहीं है।

उन आध्यात्मिक अनुभूतियों का तेज इतना प्रबल और प्रचण्ड होता है कि यदि परमात्मा कृपा करके साधक को अपनी शक्ति या दिव्य दृष्टि न दें, तो साधक कभी भी सत्य के उन उच्चतम रूपों के दर्शन या अनुभव नहीं कर सकता। भगवान श्रीकृष्ण गीता के ११वें विश्वरूप-दर्शन-योग अध्याय में अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं –

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।११-८।।

– तू मुझको अपनी इन स्वाभाविक आँखों से देखने में समर्थ नहीं हो सकेगा, इसलिये मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि या चक्षु देता हूँ, जिसकी सहायता से तू मेरे इस विश्वरूप का दर्शन करने में समर्थ होगा।

ईशोपनिषद के इस मन्त्र में भी हमें साधक की ऐसी ही मनोभूमि का संकेत मिलता है। साधक यह अनुभव करता है कि सत्य का और भी उच्च और श्रेष्ठ रूप है, पर वह मानो सोने के या एक ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है जिसे साधक अपनी साधना और शक्ति से नहीं देख पा रहा है, अत: अपने इष्ट या परमात्मा से वह प्रार्थना कर रहा है कि हे प्रभु ! मुझ सत्य के साधक को सत्य का साक्षात्कार करा देने के लिये आप इस हिरण्मय-आवरण को हटा लें, अनावृत कर दें।

साधना की दृष्टि से साधक की यह प्रार्थना हमारे लिये बहुत उपयोगी एवं मार्गदर्शक है। हमारे जीवन में भी साधना के मार्ग में अनेक प्रकार की बिघ्न-बाधायें आती हैं और तब हमें ऐसा लगने लगता है कि हम इन विघ्न-बाधाओं को पार नहीं कर पायेंगे, तब हमारा मन निराशा और विषाद में डूब जाता है। साधना के मार्ग के इन कठिन क्षणों में हमारा एकमात्र सम्बल प्रार्थना ही होती है।

जब कभी भी जीवन में कठिनाईयाँ उपस्थित हों और हमें ऐसा लगे कि अब हम कुछ नहीं कर पायेंगे। हमारी सारी शक्ति समाप्त हो चुकी है, तब हमें निष्ठापूर्वक प्रार्थना का ही आश्रय लेना चाहिये। संसार के सभी धर्मों के सन्त-महात्मा हमें यह आश्वासन देते हैं कि कातर भाव से अन्त:करणपूर्वक की गई प्रार्थना प्रभु अवश्य सुनते हैं तथा हमारे जीवन के सभी बाधा-बिघ्नों को दूर कर हमें गन्तव्य पर पहुँचा देते हैं। ईशावास्य-उपनिषद का यह मन्त्र हमें यही सन्देश देता है।

अगले १६वें मन्त्र में भी भक्त परमात्मा के प्रति अपनी प्रार्थना समर्पित करते हुये कह रहा है कि –

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि -
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।१६।।

– मन्त्र का भावार्थ यह है कि हे सबके पोषण करने वाले! हे अकेले चलने वाले! हे नियामक! हे प्रजापति के पुत्र! हे सूर्य! अपनी किरणों को हटा लो! अपने तेज को समेट लो। जो तुम्हारा अत्यन्त कल्याणमय रूप है, उस रूप को मैं देखता हूँ। वह जो सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष है, वह मैं हूँ।

यहाँ भी हम देखते हैं कि सूर्य का संकेत या अर्थ परमात्मा ही है। वह इसलिये कि संसार में सभी ज्योतियों की ज्योति वह परमात्मा ही है। उस परमात्मा की ज्योति से ही संसार के सभी ज्योतिष्मान पदार्थ प्रकाश पाते हैं।

संसार का कोई भी प्रकाश-पुंज, चाहे वह सूर्य या महासूर्य भी क्यों न हो, उस प्रभु के प्रकाश-पुंज के सामने निस्तेज हो जाता है। मुण्डक उपनिषद स्पष्ट रूप से कहता है कि उस परम प्रकाशित परमेश्वर की परम ज्योति के सामने सूर्य-चन्द्र, तारे, विद्युत की चमक आदि कुछ भी नहीं हैं। फिर अग्नि का क्या कहना है ! उस परमेश्वर के प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित हैं –

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।
(मुण्डक खण्ड-२ श्लोक -१०)

गीता में भी संजय धृतराष्ट्र से भगवान के विश्वरूप का वर्णन करते हुये कहते हैं कि आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदित होने पर जो प्रकाश होगा, वह भी उस परमात्मा के प्रकाश के समान कदाचित् ही हो –

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः।।
११/१२

यह दिव्य प्रकाश संसार का जड़ प्रकाश नहीं है। यह दिव्य ईश्वरीय प्रकाश चैतन्य प्रकाश है, जिसे केवल परम शुद्धचित्त के द्वारा ही देखा जा सकता है।

❖ (क्रमशः) ❖

खेतड़ी से पत्र-व्यवहार

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

जब अमेरिका में कुछ क्षुद्र मनोवृत्ति के लोग स्वामीजी के खिलाफ झूठे दुष्प्रचार में लगे हुए थे, तभी उन्हें राजा अजीत सिंह का पत्र मिला। उसे पढ़ने के बाद शिकागो से प्राध्यापक जॉन हेनरी राइट को भेजते हुए स्वामीजी ने उन्हें **२४ मई** को लिखा था, "इसके साथ मैं आपको राजपुताना के एक शासक महामान्य खेतड़ी-नरेश का पत्र भेज रहा हूँ। इसके साथ ही भारत के एक बृहत् देशी राज्य जूनागढ़ के भूतपूर्व दीवान का पत्र भी है। ये अफीम कमीशन के सदस्य हैं और भारत के ग्लैडस्टोन के नाम से विख्यात हैं। आशा है इन्हें पढ़कर आपको विश्वास हो जाएगा कि मैं धोखेबाज नहीं हूँ।" खेतड़ी-नरेश के पूर्वोक्त ७ अप्रैल (१८९४) के पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

"मेरे प्रिय गुरुदेव,

आपका २८ फरवरी का पत्र पाकर मुझे परम आनन्द हुआ। इसमें आपने अप्रत्यक्ष रूप से शिकायत की है कि मैंने आपको एक बार से अधिक पत्र नहीं लिखा। सचमुच यह बात मुझे स्वीकार करनी होगी, तथापि मुझे यह बताने की अनुमति प्रदान करें कि पिछले कुछ महीनों से, जबसे आपने शिकागो में सुदीर्घ प्रवास का निर्णय लिया है, मैं आपको पत्र भेजने में समर्थ नहीं हो सका; क्योंकि उसके बाद से मैं प्राय: सारे समय मुम्बई, द्वारका, वेरावल, गिरनार आदि स्थानों की यात्रा करता रहा। उसके बाद मैं रामपुर के नवाब साहब की शादी की खुशियों में शामिल होने के लिये चला गया था। तो भी मुझे लगता है कि मुझे इसके लिये आपसे क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये।

आप मुझसे बहुत अधिक ज्ञानी हैं, अत: आपको सलाह देने की कोई जरूरत मुझे नहीं दीख पड़ती, तथापि मैं साहस करके कहूँगा कि अपने देशवासियों द्वारा परोक्ष निन्दा से आपका नाराज होना उचित नहीं है, क्योंकि आप जानते हैं – **क्रय-विक्रय वेलायां काचो काच: मणिर्मणि:** (खरीदने-बेचने के समय स्वत: ही इस बात का निर्णय हो जाता है कि कौन-सा कांच है और कौन-सा मणि है)। पश्चिम के सज्जन तथा सुसभ्य लोगों के पास से किंचित् सहायता लाकर अपनी मातृभूमि की उन्नति करने की अपनी प्रिय आकांक्षा, यदि आपके समान व्यक्ति त्याग दे, तो फिर और कौन इसे पूरा करने का प्रयास कर सकेगा? यद्यपि मैं सर्वदा आपको अपने पास रखना चाहता हूँ, क्योंकि कौन जाने मैं कितने दिन जीवित रहूँ, परन्तु मुझे इतना स्वार्थी न होकर आपसे यही अनुरोध करना होगा कि आप हमारे प्रिय इस भारतवर्ष की निर्धनता तथा दुर्दशा को दूर करने का प्रयास करें, जो कभी ऐसे लोगों को पैदा कर सकती थी, जिन्होंने उस युग में आत्मविद्या की खोज की, जबकि वाष्प तथा विद्युत से चलनेवाली मशीनों के वर्तमान आविष्कारों का लेश तक न था।

आपके पुनीत दर्शन की लालसा मुझे प्रेरित कर रही है कि मैं आपको शीघ्र लौट आने के लिए लिखूँ, परन्तु कोई अन्य प्रेरणा मेरी लेखनी को रोककर इसके उल्टा लिखने को बाध्य कर रही है कि आप वहीं रहें, जहाँ के लोग मनुष्य पहचानने के जौहरी हैं।

स्वामी अखण्डानन्द जी आजकल यहीं हैं। उन्होंने आपको एक अलग पत्र लिखा है, जो इसके साथ संलग्न है। जगमोहन जयपुर में है, परन्तु मुझे विश्वास है कि यह सुनकर वह बड़ा आनन्दित होगा कि मैंने उसके अनुरोध के बिना ही आपको उसका दण्डवत प्रणाम लिख दिया है।

वह बाघ आखिरकार पकड़ लिया गया है, जो खेतड़ी की पहाड़ियों में घूमा करता था और जिसने अपने भलीभाँति कैद होने के पूर्व तक करीब ५० भैंसों को खा डाला था।

मेरे हार्दिक दण्डवत के साथ

अभिमानपूर्वक आपका

अजीतसिंह [१]

सम्भवत: इसी पत्र के उत्तर में स्वामीजी ने वह पत्र लिखा था, जो उनकी ग्रन्थावली में आंशिक रूप से मिलता है। उस में यद्यपि दिनांक नहीं है, तथापि वर्ष १८९४ ई. लिखा हुआ

१. Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, by Marie Louise Burke, Vol. 2, Third Edition, 1984, P. 97-98

है और मजमून से ज्ञात होता है कि यह उस वर्ष के मध्य अर्थात् मई या जून में लिखा गया था। पत्र इस प्रकार है –

प्रिय महाराज,

"... संस्कृत के किसी कवि ने कहा है – **न गृहं गृहमिति आहुः गृहिणी गृहमुच्यते** – अर्थात् 'घर ईंट-पत्थर की इमारत से नहीं, अपितु गृहिणी से बनता है !' यह कितना सत्य है ! गर्मी, जाड़े तथा वर्षा से तुम्हारी रक्षा करनेवाली घर की छत के गुण-दोषों का विचार उसे सहारा देनेवाले खम्भों से नहीं हो सकता, चाहे वे कितने ही सुन्दर, शिल्पमय 'कोरिन्थियन्' खम्भे क्यों न हों। उसका निर्णय होगा नारी से, जो वास्तविक मर्म-स्तम्भ है, सबका केन्द्र है, घर का वास्तविक अवलम्बन है। इस आदर्श के अनुसार विचार करने पर अमेरिका का पारिवारिक जीवन जगत् के अन्य किसी स्थान के पारिवारिक जीवन से न्यून न होगा।

अमेरिका के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में मुझे अनेक निरर्थक कहानियाँ सुनने को मिलीं। यथा – वहाँ स्वाधीनता स्वेच्छाचार तक पहुँच जाती है, वहाँ की धर्मवर्जित नारियाँ स्वाधीनता की अपने उन्माद-नृत्य में अपने पारिवारिक जीवन की सुख-शान्ति को पददलित कर चूर्ण-विचूर्ण कर देती हैं – और इसी प्रकार की और भी बहुत सारी बकवास ! परन्तु अब **एक वर्ष बाद** अमेरीकी परिवार तथा अमेरिका के नर-नारियों के सम्बन्ध में मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उससे यह स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है कि उक्त प्रकार की धारणाएँ कितनी भ्रान्त तथा निर्मूल हैं। अमेरिकन महिलाओ, मैं तुमसे सौ जन्म में भी उऋण न हो सकूँगा। मेरे पास तुम्हारे प्रति कृतज्ञता प्रकट करने को शब्द नहीं हैं। 'प्राच्य अतिशयोक्ति' ही प्राच्यवासी मानवों की कृतज्ञता की गम्भीरता को प्रकट करने की एकमात्र भाषा है –

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम् ।
(शिवमहिम्नः स्तोत्रम्)

– 'यदि समुद्र दावात, हिमालय पर्वत स्याही, पारिजात वृक्ष की शाखा लेखनी तथा पृथ्वी कागज हो तथा सरस्वती स्वयं चिर काल तक लिखती रहें, तो भी ये सब तुम्हारे प्रति मेरी कृतज्ञता प्रकट करने में समर्थ न हो सकेंगे।'

पिछले वर्ष ग्रीष्म ऋतु में बहुत दूर देश से नाम-यश-धन-विद्या-विहीन बन्धुरहित असहाय दशा में प्रायः खाली हाथ जब मैं एक परिव्राजक, प्रचारक के रूप में इस देश में आया, उस समय अमेरिका की महिलाओं ने मेरी सहायता की, मेरे ठहरने तथा भोजन की व्यवस्था की, मुझे अपने घर ले गयीं और मेरे साथ अपने पुत्र तथा सहोदर जैसा बर्ताव किया। उनके पुरोहितों ने जब उन्हें इस 'भयानक विधर्मी' को त्याग देने के लिए बाध्य करना चाहा, जब उनके सबसे अन्तरंग बन्धु 'इस सन्दिग्ध भयानक चरित्र के अपरिचित विदेशी व्यक्ति' का संग छोड़ने के लिए उपदेश देने लगे, तब भी वे मेरी मित्र बनी रहीं। ये महामना, निःस्वार्थ, पवित्र महिलाएँ ही मानव-चरित्र तथा मानव-प्रकृति की सच्ची निर्णायिका हैं, क्योंकि स्वच्छ दर्पण में ही स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है।

मैंने यहाँ कितने ही सुन्दर पारिवारिक जीवन देखे हैं, कितनी ही ऐसी माताओं को मैंने देखा है, जिनके निर्मल चरित्र तथा निःस्वार्थ सन्तान-स्नेह का वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता। कितनी ही ऐसी कन्याएँ तथा पवित्र कुमारियाँ – देवी डायना के मन्दिर की तुषारकणिकाओं के समान पवित्र ! फिर उनकी वह संस्कृति, शिक्षा तथा सर्वोच्च कोटि आध्यात्मिकता ! तो क्या अमेरिका की सभी नारियाँ देवी-स्वरूपा हैं? यह बात नहीं, भले-बुरे सभी स्थानों में होते हैं। किन्तु दुष्ट व्यक्तियों द्वारा, जिन्हें हम दुष्टों के नाम से अभिहीत करते हैं, किसी राष्ट्र के बारे में किसी प्रकार की धारणा नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि वे तो व्यर्थ के कूड़े-करकट की तरह पीछे रह जाते हैं; जो लोग भले, उदार तथा पवित्र होते हैं, उन्हीं के द्वारा राष्ट्रीय जीवन का निर्मल तथा शक्तिशाली प्रवाह निर्धारित हुआ करता है।

किसी सेव के पेड़ तथा उसके फलों के गुण-दोषों का विचार करने के लिए क्या तुम उसके कच्चे, अविकसित तथा कीड़ों द्वारा खाये हुए फलों का सहारा लोगे, जो धरती पर जहाँ-तहाँ बिखरे हुए पड़े रहते हैं और जो कभी-कभी संख्या में भी अधिक ही होते हैं? यदि कोई सुपक्व तथा पुष्ट फल मिले, तो उस एक फल से ही उस सेव के वृक्ष की शक्ति, सम्भावना तथा उद्देश्य का अनुमान किया जाता है, उन असंख्य कच्चे फलों से नहीं।

अमेरिका की आधुनिक महिलाओं के उदार मन की मैं प्रशंसा करता हूँ। मैंने इस देश में अनेक उदार पुरुषों को भी देखा है, उनमें से कोई-कोई तो अत्यन्त संकीर्ण मनोवृत्ति वाले सम्प्रदायों के अन्तर्गत हैं। भेद इतना ही है कि पुरुषों के विषय में सदा यह आशंका बनी रहती है कि उदार बनने के लिए वे अपना धर्म, अपनी आध्यात्मिक विशिष्टता खो सकते हैं, परन्तु महिलाएँ जहाँ कहीं भी भलाई देखती हैं, उसे सहानुभूतिपूर्वक, उदारता से अपने धर्म से तनिक भी विचलित हुए बिना ग्रहण करती हैं। सहज रूप से वे अनुभव करती हैं कि यह एक भाव का विषय है, अभाव का नहीं, संयोजन का विषय है वियोग का नहीं। दिनो-दिन वे विषय में सचेत होती जा रही हैं कि हर वस्तु का सकारात्मक तथा इतिवाचक भाग ही संचित होता रहेगा और इन सकारात्मक तथा इतिवाचक भावों के, और इसलिये प्रकृति की आध्यात्मिक

शक्तियों के संचय करने का कार्य ही संसार के नेतिवाचक तथा ध्वंसात्मक तत्त्वों का नाश करता है।

शिकागो का वह 'विश्वमेला' कितनी अद्भुत घटना थी ! और वह 'धर्म-महासभा' भी, जिसमें पृथ्वी के सभी देशों के लोगों ने एकत्रित होकर अपने-अपने विचार व्यक्त किये ! डॉ. बैरोज तथा श्री बॉनी के अनुग्रह से मुझे भी अपनी धारणाओं को सबके समक्ष रखने का अवसर प्राप्त हुआ था। श्री बॉनी कितने अद्भुत व्यक्ति हैं ! जरा उनकी कल्पना-शक्ति के बारे में सोचिये, जिन्होंने इतने विशाल आयोजन की कल्पना की और उसे सफलतापूर्वक कार्य रूप में परिणत किया ! और उल्लेखनीय बात यह है कि वे कोई पादरी नहीं थे; एक साधारण वकील होकर भी उन्होंने समस्त धर्म-सम्प्रदायों के परिचालकों का नेतृत्व ग्रहण किया था। उनका स्वभाव अत्यन्त मधुर है और वे एक विद्वान् तथा धीर व्यक्ति हैं – उनकी हृदयस्थ भावनाओं का प्रकाश उनके उज्ज्वल नेत्रों से ही होता था ! ...

आपका, **विवेकानन्द**[२]

अखण्डानन्दजी का ऐतिहासिक पत्र

जैसा कि हमने देखा राजा अजीतसिंह ने अपने ७ अप्रैल (१८९४) के पत्र में लिखा था – "स्वामी अखण्डानन्द जी आजकल यहीं हैं। उन्होंने आपको एक अलग पत्र लिखा है, जो इसके साथ संलग्न है।" यह पत्र तथा स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रेषित उसका उत्तर सम्पूर्ण विश्व के इतिहास में काफी महत्त्व रखता है, क्योंकि इसी पत्र के भावों तथा स्वामीजी द्वारा उसके प्रत्युत्तर के द्वारा युगधर्म – 'शिवज्ञान से जीवसेवा' – नररूपी ईश्वर की सेवा रूपी साधना-यज्ञ की शुरुआत हुई।

हम पहले ही कह आये हैं कि अखण्डानन्द जी स्वास्थ्य में सुधार हेतु खेतड़ी गये और वहाँ डेढ़ माह बिताने के बाद वे मलसीसर गये और वहाँ करीब छह मास निवास किया। इसके बाद उन्होंने शेखावाटी के विविध ग्रामों तथा नगरों का भ्रमण करते हुए प्रजा की दयनीय दशा देखी और इससे उनका हृदय अभिभूत हो उठा। उन्होंने समझ लिया कि भारत में सामाजिक विषमता तथा भेदभाव के दोष से ही यह दुर्दशा हुई है। इतिहास के ग्रन्थों का अध्ययन करके उन्होंने समझा कि भले ही इस समय देश का पतन हुआ है, परन्तु समता एवं उदारता के आधार पर एक नये युग का सूत्रपात किया जा सकता है। वे सोचने लगे – जो भारतवासी एक मुट्ठी अन्न के लिए लालायित हैं, उन्हें धर्म के गूढ़ तत्त्व, मनोविज्ञान के कूट तर्क, सांख्य की जटिल मीमांसा और वेदान्त का मायावाद सुनाने से उनका यह अभाव दूर नहीं हो सकेगा। जिनके पेट में अन्न नहीं, पहनने को वस्त्र नहीं, रहने को घर नहीं – उनके चित्त में ऐसे विषय कैसे जगह बना सकेंगे?

इस प्रकार विचार करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य के मूलभूत अभावों को दूर करना ही उन्नति के प्रयास का पहला सोपान होगा। आर्त बुभुक्षु आम जनता के प्राथमिक अभावों की पूर्ति कर पाने से ही भारत में सच्चे धर्म तथा आध्यात्मिकता की पुन: स्थापना हो सकेगी। मानवप्रेमी संन्यासी अपनी मुक्ति तक की कामना को छोड़ लोक-हित के पथ पर यात्रा करने को प्रस्तुत थे। १८९४ ई. के प्रारम्भ में उन्होंने अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हुए 'राजा के कर्तव्य' विषय पर खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह को एक पत्र लिखा।

वे लिखते हैं – "राजा के आमंत्रण पर मैं पुन: खेतड़ी लौट आया। वहाँ से मैंने अमेरिका में स्वामीजी को पत्र लिखकर पूछा कि गरीब प्रजा के दु:खों को दूर करने के लिये मैंने जैसा संकल्प किया है, वह उचित है या नहीं।"[३]

उक्त पत्र लिखने की पृष्ठभूमि तथा अपने तत्कालीन मनो-भाव के विषय में उन्होंने लिखा है – "पहले मैं भीड़-भाड़ से परिपूर्ण संसार को त्यागकर काफी काल तक तिब्बत तथा हिमालय का भ्रमण करता रहा। तत्पश्चात् चार-पाँच वर्षों तक गुजरात, काठियावाड़, कच्छ तथा राजपुताना के अनेक ग्रामों तथा नगरों का भ्रमण करके मैं भारत के श्रमजीवी किसानों की वास्तविक अवस्था को समझने में सक्षम हुआ। निर्जन पहाड़ी इलाकों में मुझे इसका मौका नहीं मिल सका था। मुट्ठी भर ऐश्वर्यशाली लोगों के इन्द्रिय-सुखों की परिपूर्ति के लिए करोड़ों मनुष्यों के अतीव कष्ट द्वारा उपार्जित धन का अपव्यय होते देखकर मेरी सुख-शान्ति सदा के लिए विदा हो गयी। प्रबलों के अत्याचार से उत्पीड़ित तथा अपने न्यायपूर्ण हक से वंचित जनसाधारण की सेवा में जीवन को अर्पित कर देना ही उस समय मुझे अपना एकमात्र कर्तव्य प्रतीत हुआ। मैं भलीभाँति समझ गया कि अपने देशवासियों की इस दुख-दुर्दशा का अवसान हुए बिना मेरे लिए शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। पहले जो सोचा था कि संन्यासी होने पर सहज ही शान्ति मिल जायेगी, वह अब स्वप्न के समान पूर्णत: भ्रम-सा लगने लगा। दया-धर्म की चिर आवासभूमि की यह सोचनीय अवस्था देखकर मेरा जीवन घोर अशान्ति-दुखमय हो उठा। उसी दिन से मेरा चिरपालित सुख-स्वप्न टूट गया। उन्हीं दिनों हमारे परम पूज्य स्वामीजी अमेरिका में अपने विजयघोष से दिग्दिगन्त को प्रतिध्वनित कर रहे थे। स्वदेशवासियों की दीन दशा को देखकर मेरे हृदय में जो तूफान उठा था और भारत के अत्यन्त समृद्धिशाली जनबहुल प्रदेशों का निरीक्षण करके मुझे जो अनुभव प्राप्त हुए थे – मैंने उन्हें विस्तारपूर्वक सब कुछ लिख भेजा।[४]

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, प्र. सं., पृ. ३१७-१९

३. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ. सं. पृ. १०५

४. एक अप्रकाशित लेख से, 'स्वामी अखण्डानन्द', प्र. सं., पृ. ८७

कुछ माह पूर्व उन्होंने आबू रोड़ में स्वामी ब्रह्मानन्द के मुख से भारत के निर्धनों के प्रति स्वामीजी के संवेदना की बात सुनी थी, अतः उन्हें पूरी आशा न थी कि वे उन्हें इस प्रतीयमान लौकिक कार्य में उत्साहित करेंगे।

एक वार्तालाप में भी उन्होंने कहा था – "स्वामीजी जब अमेरिका में व्याख्यान दे रहे थे – 'भारत रोटी चाहता है, धर्म नहीं। यदि उनके मुख में रोटी दिया जा सके, तो वे लोग धर्म के विषय में जगत् को बहुत कुछ सुना और सिखा सकते हैं।' ठीक उसी समय मेरे भीतर देशप्रेम की जो बाढ़ आयी थी, वह अकल्पनीय है। उस समय मैं राजपुताना के खेतड़ी राज्य के राजा का राज-अतिथि और स्वामी विवेकानन्द का गुरुभाई अर्थात् राजा का चाचागुरु था, चार तुर्की सवार सर्वदा मेरा हुक्म बजाने के लिये खड़े रहते थे। कहीं भी जाना हो, तो आगे-पीछे तुर्क घुड़सवार जाते थे। उन दिनों मेरा काम था – खेतड़ी के संस्कृत विद्यालय तथा उच्च अंग्रेजी विद्यालय की उन्नति के लिये बाहर से चुन-चुन कर शिक्षक लाना और गाँव-गाँव में जाकर दास बालकों को एकत्र करके उनके दुख-कष्टों की बातें सुनना। दिन-रात मुझे यही चिन्ता रहती थी। ५० दास बालकों के लिये मुफ्त शिक्षा तथा भोजन की व्यवस्था की थी।"[५]

पत्र लिखना

इस पत्र-लेखन के विषय में स्वामी अखण्डानन्द की कुछ और भी उक्तियाँ प्राप्त होती हैं – "खेतड़ी में रहते समय मैंने स्वामीजी को अमेरिका में चिट्ठी लिखी। रात ९ बजे लिखने बैठा और जब लिखना पूरा हुआ तो देखा – पौ फट रही है। मैंने देश की अवस्था जैसी समझी है और मैं जो कर सकता हूँ – वह सब स्पष्ट लिखा और जानना चाहा कि मुझे क्या करना है। उत्तर की प्रतीक्षा में दिन गिनने लगा और तरह तरह की बात सोचने लगा कि स्वामीजी क्या लिखेंगे। कही लिखें – 'तू संन्यासी है, तेरा इतना सिरदर्द क्यों? साधन-भजन, शास्त्रपाठ, प्रव्रज्या लेकर रह। उन सब कामों में हाथ देकर 'अव्यापारेषु व्यापार' करने मत जा – तो क्या करना? ठीक किया था कि यदि स्वामीजी उत्तर में ऐसा ही लिखें, तो किसी को कुछ न बताकर भारत छोड़कर चला जाऊँगा, जिससे मुझे देश की दु:ख-दुर्दशा न देखनी पड़े। कराकोरम होकर सीधा मध्य एशिया चला जाऊँगा, जहाँ जाने के लिए पहले ही निकल पड़ा था। स्वामीजी ही तो मुझे बुला लाये थे – उनके साथ हिमालय-भ्रमण करना होगा, ऐसा कहकर। पहाड़ों का रास्ता मेरा जाना हुआ था न, इसीलिए। स्वामीजी के पत्र के लिए उत्सुक हुआ बैठा था।"[६]

अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था, "उस समय मैंने निश्चित कर लिया था कि पत्रोत्तर में स्वामीजी ने यदि मुझे प्रोत्साहित नहीं किया, तो फिर इस अंचल में नहीं रहूँगा, जीवन भर के लिए इस स्थान को छोड़कर चला जाऊँगा। उस समय मेरा जैसा मनोभाव था, उससे वहाँ रहकर कुछ न करना मेरे लिए बिल्कुल ही असह्य हो उठता।"

"मेरा हृदय बड़ा ही कठोर था। उसके बाद हिमालय गया।... हिमालय न जाने पर मेरा कठोर हृदय नरम नहीं होता और राजपुताना में पतित अन्त्यज जातियों के लिए रो नहीं उठता। वहीं से मैंने सर्वप्रथम स्वामीजी को लिखा – 'My nation first, myself second. I for others.' तब मेरे मन का भाव था – "स्वामीजी यदि मुझे इस विषय में उत्साहित न करें, तो मध्य एशिया चला जाऊँगा।"[७]

पत्र लिखने के बाद उसके अमेरिका जाने और वहाँ से उत्तर आने में लगभग दो-ढाई महीने लग जाते थे। पत्र भेजने के बाद वे खेतड़ी में ही रहकर प्रतीक्षा करने लगे। वे आगे लिखते हैं – "राजसभा में मैं प्रतिदिन वेदान्त पर चर्चा किया करता था। एक दिन वेदान्त-चर्चा के समय राजा के एक मुसाहब ने राजा की ओर इंगित करके कहा, 'आप तो सब जानने ही हैं।' अर्थात् मैं वेदान्त के विषय में जो कुछ बोल रहा हूँ, राजा को वह सब पहले से ही ज्ञात है।

"ऐसी निर्लज्ज खुशामदी मुझसे सहन नहीं हुई। मैं हिन्दी में बोल उठा, 'क्या कहते हो – ये सब कुछ जानते हैं! राजा क्या जान सकते हैं? एक संन्यासी ८० वर्ष, सारे जीवन, दिन-रात चर्चा करके भी जिस वेदान्त को समझ नहीं पाता, उसे तुम्हारे राजा ने दिन-रात खेलकूद, रसरंग में उन्मत्त रह कर भी जान लिया है! हमारे देश के बड़े आदमियों की इसी तरह खुशामद कर-करके तुम लोगों ने जहन्नुम में पहुँचा दिया है। यह वेदान्त क्या कोई हँसी-मजाक है। एक-एक प्रमेय पर ही तीन लाख ग्रन्थ हैं। यदि तुम लोग इनके समक्ष 'ये कुछ नहीं जानते, कुछ भी नहीं जानते' – ऐसा कहो, तो इनके मन में पश्चाताप आयेगा और तब वे कुछ ज्ञान अर्जित कर सकेंगे।

"पूरी सभा स्तब्ध रह गयी। राजा बोले, 'ठीक कहा महाराज, ठीक कहा!' मैंने सोचा था कि जिस मुसाहब को मैंने डाँट दिया था, वह नाराज होगा। पर ऐसी बात नहीं थी, उसी ने अकेले में मुझसे कहा, 'अच्छा किया, महाराज, आप लोगों को छोड़ दूसरा कौन बोल सकता है? हम लोगों की भला क्या हिम्मत! हम तो थोड़े-से अन्न के दास हैं, इसीलिये ऐसी बातें कहते हैं।"[८] इसके बाद अखण्डानन्दजी ने वेदान्त पर अपनी मूल चर्चा जारी रखी। ❖ **(क्रमशः)** ❖

५. स्वामी अखण्डानन्द के जेरूप देखियाछि (बँगला) सं. स्वामी चेतनानन्द, उद्बोधन कार्यालय, सं. १९९९, पृ. १०७-०८

६. अखण्डानन्द के सान्निध्य में, पृ. ५०

७. स्वामी अखण्डानन्द के जेरूप देखियाछि (बँगला), पृ. ११२

८. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ. सं. पृ. १०६ (इसी घटना के अन्य विस्तृत वर्णन हेतु द्र. आदर्श नरेश, पृ. ३७८-७९)
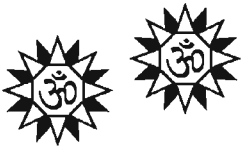
स्वामीजी के सान्निध्य में
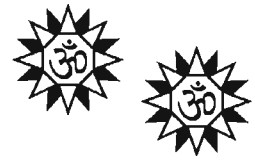
श्रीमती एस. के. ब्लाजेट

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

मुझे सर्वदा उस अविस्मरणीय शीत काल के सहज स्वाधीनता तथा आनन्द के परिवेश में बिताये गये द्रुतगामी सुनहरे दिनों की याद आती रहती है। उन दिनों हम बिना अच्छाई और बिना आनन्द के रह ही नहीं सकती थीं। जिन लोगों का उनके साथ परिचय और लगाव था, इस समय मैं उन सभी लोगों के साथ, एक गहरा अभाव महसूस कर रही हूँ, परन्तु तुम्हारे परिवार के साथ उनकी जो अन्तरंग मित्रता थी और तुम जिस घनिष्ठता के साथ उनके साथ जुड़ी हुई थी, इस कारण तुम्हारे दुःख तथा अभाव के साथ हमारी पीड़ा की तुलना करना एक प्रकार की धृष्टता ही होगी। मुझे अल्प काल के लिये ही उनका व्यक्तिगत रूप से सान्निध्य प्राप्त हुआ था, परन्तु उसी दौरान मुझे स्वामीजी के चरित्र के शिशु-सुलभ स्वभाव के ऐसे सैकड़ों पक्ष देखने को मिले, जो किसी भी भली नारी के मातृभाव को निरन्तर आकृष्ट कर सकता था। अपने साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले लोगों पर वे ऐसे निर्भर रहते कि वह उनके हृदय को छू लेता था। मुझे लगता है कि स्वामीजी के चरित्र के इस पक्ष की ओर मीड-बहनों का ध्यान अवश्य गया होगा।

वे विश्व के प्राचीनतम वस्तुओं तक के विषय में ज्ञान के अक्षय भण्डार थे – एक ऋषि तथा दार्शनिक थे – तथापि मुझे उनमें उस व्यावसायिक बुद्धि का पूर्ण अभाव दीख पड़ा थे, जो कि पाश्चात्य मानव का वैशिष्ट्य है। हमारे दैनन्दिन जीवन के घरेलू परिवेश में, ऐसे मामलों में भी जहाँ कि उन्हें कुछ-कुछ सुधार की जरूरत थी, प्रतिदिन तुम उन्हें निरन्तर छोटी-मोटी सेवा प्रदान किया करती थी। जिस वस्तु को हम जन्म देते हैं और देखभाल करते हैं, तो मानो सहज-स्वाभाविक रूप से ही की जानेवाली अपनी छोटी-मोटी सेवा के द्वारा हम अपने स्नेहपात्र के इर्दगिर्द एक तानाबाना बुन डालते हैं – और तब एक ऐसा शोकमय दिन आता है, जब वह प्रेमपूर्ण सेवा का दिव्य सौभाग्य हमसे छिन जाता है और हम वैसे ही रह जाते हैं जैसे, "रचेल अपने बच्चों के लिये शोक मना रही थी, क्योंकि वे नहीं रहे थे।"

इस प्रकार एक आनन्दमय तथा दुर्लभ साथी के खो बैठने के बाद ही मेरा इस तथ्य पर ध्यान गया कि तुम्हारी उदार सेवा के फलस्वरूप ही वे तुम्हारे अति निकट आ गये थे। एक दिन जब मैं अपने कार्य में व्यस्त थी और स्वामीजी अपनी सब्जियाँ और चपातियाँ बनाने में तल्लीन थे, मैंने उनके समक्ष तुम्हारा उल्लेख किया, तो कह उठे – "ओह, हाँ, 'जो'[१] – वह हम लोगों में से सबसे मधुर प्राणी है।" व्याख्यान समाप्त हो जाने पर जब श्रोतागण उन्हें चारों ओर से घेर लेते, तब किसी प्रकार वे उन लोगों से पिण्ड छुड़ाकर, स्कूल से छुट्टी पाये बालक के समान दौड़कर आते और रसोईघर में घुसकर बोलते – "अब खाना-वाना पकाया जाय!" उस समय मानो उनके चरित्र से ऋषि तथा दार्शनिक लुप्त हो जाता और एक शिशुसुलभ सहज भाव प्रकट हो उठता। इसके बाद सावधान-सतर्क 'जो' वहाँ आकर देखती कि स्वामीजी व्याख्यान की अच्छी पोशाक पहने हुए ही कड़ाही, करछुल आदि लेकर व्यस्त हैं; और उन्हें कठोर स्वर में जाकर साधारण कपड़े पहन आने का निर्देश देती।

अहा! तुम जिन दिनों को 'चाय पार्टी के दिन' कहा करती थी, वे कितने आनन्दमय थे! हम कितना हँसा करती थीं! उस दिन की बात तुम्हें स्मरण है क्या, जिस दिन स्वामीजी मुझे दिखा रहे थे कि वस्त्र को कैसे सिर पर लपेटकर पगड़ी बाँधी जाती है और तुम उनसे शीघ्रता करने को कह रही थी, क्योंकि सभा-कक्ष में जाने का समय हो चुका था। तब मैंने कहा था, "स्वामीजी, आपको हड़बड़ी करने की जरूरत नहीं; आप तो फाँसी पर झूलाये जानेवाले उस अभियुक्त के समान हैं। फाँसी होने की जगह के पास पहुँचने के लिए लोगों में धक्का-मुक्की शुरू हो गई थी, उसी समय अभियुक्त ने आकर ऊँची आवाज में कहा, 'जल्दबाजी करने की कोई जरूरत नहीं; मेरे पहुँचने के पहले वहाँ देखने लायक कुछ भी नहीं होगा।' मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ स्वामीजी, आपके पहुँचे बिना वहाँ कुछ भी देखने लायक नहीं होगा।" इसे सुनकर वे इतने आनन्दित हुए थे कि बाद में वे प्रायः ही

१. 'जो' अर्थात् कुमारी जोसेफीन मैक्लाउड

कहते, "मेरे वहाँ न पहुँचने तक देखने लायक कुछ भी नहीं होगा," और फिर एक बालक की भाँति हँसने लगते।

इस समय मुझे उस सुबह की बात याद आ रही है। उस दिन विद्वान् हिन्दू की बातें सुनने के लिये हमारे आवास पर काफी संख्या में श्रोता एकत्र हो गये थे। वे गम्भीर चेहरे के साथ आँखें झुकाये बैठे रहे और श्रोतागण प्रतीक्षा करते रहे। अपना ध्यान समाप्त हो जाने पर उन्होंने आँखें उठायीं और श्रीमती लेगेट की ओर देखते हुए एक सरल बालक की भाँति पूछा – "मैं किस विषय पर बोलूँ?" बुद्धिजीवी श्रोताओं को आनन्द प्रदान करने की सूक्ष्म क्षमता से सम्पन्न वह मेधावी व्यक्ति एक विषय के बारे में पूछ रहा था ! इस प्रश्न में मुझे स्थान-काल के अनुसार एक विषय सुझाने की दृष्टि से उनकी (श्रीमती लेगेट) निर्णय-क्षमता में उनके विश्वास की झलक दिखायी दी। उस दिन के सर्वाधिक रोचक अंश से तो तुम वंचित रह गयी थी।

भोर के समय जब तुम और तुम्हारी बहन निद्रामग्न रहती, तभी वे सुबह के स्नान हेतु स्नानघर में आते। शीघ्र ही वहाँ से उनके गम्भीर तथा सुललित कण्ठ से निकलती पवित्र मंत्रपाठ की आवाज गूँजने लगती। यद्यपि संस्कृत मेरे लिये एक अज्ञात भाषा थी, तथापि मैं उनका भाव समझ लेती; और इन महान् हिन्दू की जितनी भी स्मृतियाँ मेरे मन में अब तक विद्यमान हैं, उनमें यह प्रात:कालीन स्तोत्र-पाठ ही सर्वाधिक मधुर स्मृति है। पुराने ढर्रे की रसोईघर के घरेलू परिवेश के बीच तुमने और मैंने स्वामीजी को उनकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था में देखा है। उस समय वे अपने चिन्तन के प्रवाह को निर्मुक्त छोड़ देते।

क्या तुम्हें याद है – एक दिन सुबह अपनी उस प्रेरणादायी मन:स्थिति में वे कितने रोचक तथा शिक्षाप्रद हो उठे थे। उस दिन समाचार-पत्र में किसी व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी अथवा सन्तान के प्रति अति निष्ठुर व्यवहार किये जाने की एक घटना पढ़कर मुझे क्रोध आ गया था। जब मैं उस पर उत्तेजित होकर उस घृणित सामाजिक प्रणाली की कटु आलोचना करने लगी, जिसके चलते ऐसे असंख्य वर्णसंकर सन्तानों को उत्पन्न करने की छूट मिली हुई है, जो अपनी दूषित आनुवंशिकता तथा परिवेश – दोनों के फलस्वरूप जन्म के पहले से ही अभिशप्त हैं और कंगाल, पागल तथा अपराधी बनकर सद्वंश के लोगों को अपना शिकार बनाते हैं। मेरा अनुरोध था कि कानून द्वारा शराबी पिताओं तथा मूर्ख माताओं द्वारा सन्तानोत्पादन पर रोक लगा दी जाय, क्योंकि उनके द्वारा उत्पन्न किये गये अभागे सन्तान ईश्वर के नाम पर एक कलंक हैं।

इसके उत्तर में स्वामीजी हमें उस पुरातन काल में ले गये, जब व्यक्ति को पत्नी चुनने के लिये अपने बाहुबल का उपयोग करना पड़ता था। फिर उन्होंने बताया कि कैसे क्रमश: युग बदलने के साथ-साथ नारियों की दशा में धीरे-धीरे सुधार आता गया है। समाज में ज्यों-ज्यों विकास हो रहा है, त्यों-त्यों विचारों में विस्तार के फलस्वरूप उनके लिये अधिकाधिक स्वाधीनता तथा सुख की व्यवस्था हो रही है। आज सुबह के वार्तालाप की मुख्य बात यह थी कि सभी महान् सुधारों का विकास धीरे-धीरे ही हुआ है, अन्यथा विश्व की व्यवस्था तथा सन्तुलन बिगड़ जायेगा और उसके परिणामस्वरूप अव्यवस्था फैल जायेगी। वैसे मैं विस्तार से उनकी सारी बातें नहीं बता सकती या हू-ब-हू उनके शब्दों को प्रस्तुत नहीं कर सकती। मैं केवल उनके विचार मात्र ही दे सकती हूँ। यह मेरे लिये एक विचित्र-सी बात है कि यद्यपि उनका एक शब्द भी मुझसे अनसुना नहीं रहा और उनका कोई भी विचार मेरी समझ से परे नहीं रहा, तथापि उनकी कुछ उक्तियों को छोड़, उनकी सारी बातों को दुहराना मुझे असम्भव लग रहा है। मेरा प्रश्न है कि क्या कोई उनकी प्रेरित अवस्थाओं को दुहरा सकता है ! ऐसे क्षणों में तो व्यक्ति सुनने के आनन्द में ही पूरी तौर से तल्लीन हो जाता है।

मैंने स्वामीजी के कुछ ही सार्वजनिक व्याख्यान सुने होंगे। अपनी आयु तथा गृह-कार्य की वजह से मुझे मार्था के समान घर में ही रहना पड़ता था। उस काल के सुखद क्षणों के विवरण याद करना मानो वैसा ही है जैसे बीच में ही टूट गये स्वप्न का वर्णन करना। क्या तुम उस भाषण में उपस्थित थी, जिसमें उल्टे-सीधे प्रश्न करके लोगों का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा करनेवाली महिलाओं में से एक ने पूछा था – "स्वामीजी, आपके देश में साधुओं की काफी बड़ी संख्या है। उनकी जरूरतों को कौन पूरा करता है?" विद्युत् की चमक के समान स्वामीजी ने उत्तर दिया था – "मैडम, वे ही जो आपके देश में पुरोहितों को खिलाती हैं अर्थात् महिलाएँ।" श्रोताओं में हँसी फूट पड़ी और वह महिला न जाने कहाँ गायब हो गयी और स्वामीजी का व्याख्यान अबाध गति से चलता रहा?

एक अन्य समय मैं एक व्याख्यान सुनने गयी थी, जब वे शिकागो के मेसोनिक मन्दिर में व्याख्यान दे रहे थे। वहाँ उपस्थित एक सुविख्यात् पादरी ने पूछा, "संन्यासी महाशय, आप तो साम्प्रदायिक मतवाद में विश्वास करते होंगे, क्यों करते हैं न?" स्वामीजी बोले, "अवश्य, और आप लोगों के लिए वह आवश्यक है। वृक्ष उगाने के लिये आप बीज बोने के बाद सूअर-बकरी आदि से पौधे की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर एक छोटा-सा घेरा खड़ा कर देते हैं। परन्तु जब आपका पौधा बड़ा होकर एक

(**शेष अगले पृष्ठ पर**)

हमीद खाँ भाटी

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'भूले न भुलाए' पुस्तक के कुछ अंश। – सं.)

प्रत्येक गाँव या कस्बे में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति हो जाते हैं, जिनको लोग बहुत समय तक याद किया करते हैं और उनकी अमिट छाप जन-मानस पर अंकित हो जाती है। इस प्रकार के मनुष्य केवल धनी अथवा विद्वान-घरानों में ही पैदा होते हों, ऐसी बात नहीं है।

बीकानेर के उत्तर में पूगल नाम का इलाका है। कहते हैं कि किसी समय में यहाँ पद्मिनी स्त्रियाँ होती थी। जो भी हो, आजकल तो यहाँ वीरान, रेतीली, बंजर भूमि है। पीने के पानी की कमी रहती है, अत: गाँव भी छोटे और दूर-दूर हैं।

यहाँ के बासिन्दों का मुख्य धन्धा भेड़ पालना है। थोड़े से ब्राह्मण और बनिये हैं, जो जजमानी और लेन-देन या छोटी-मोटी दुकानदारी का काम करते हैं।

उनके सिवाय यहाँ मुसलमान गुजरों की पर्याप्त संख्या है, जिसके पास बेहतरीन किस्म की गायें रहती हैं। वे इनका दूध-घी बेचकर अपना निर्वाह करते हैं। कहावत है – 'सेवा से मेवा मिलता है।' शायद इसलिये इनकी गायें दूध ज्यादा और अच्छी नस्ल के बछड़े-बछड़ियाँ भी देती हैं।

सन् १९५१ ई. में उधर भयंकर अकाल पड़ा। कुओं में पानी सूख गया। घरों में जो थोड़ा-बहुत घास और चारा बचा हुआ था, उससे उस वर्ष किसी प्रकार पशुओं की जान बची। दूसरे वर्ष फिर वर्षा नहीं हुई और अकाल पड़ा, तो यहाँ के लोगों का साहस टूट गया। कोलकाता की मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी ने दोनों वर्ष ही वहाँ राहत पहुँचाने का कार्य किया था। मैं भी दूसरे वर्ष कुछ समय उस सिलसिले में वहाँ रहा।

हम देखते थे कि प्रतिदिन हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे अपने ढोरों को लिये, कोटा, बाँरा और मालवा की ओर पैदल जाते रहते थे। चार-पाँच महीनों के बाद ही वापस आने की सम्भावना रहती, इसलिये घर का सारा सामान भी बैलों पर लदा हुआ रहता। घर छोड़कर जाने में दु:ख और शोक की छाया स्पष्ट नजर आती थी। रास्ता काटने के लिये स्त्रियाँ भजन गाती हुई चलतीं। बच्चों को संकट और कष्ट के बारे में खास जानकारी नहीं रहती, इसलिये उनको इस यात्रा में एक प्रकार का नयापन और आनन्द मिलता। लोगों से पूछने पर प्राय: एक ही उत्तर मिलता कि पानी, अनाज, घास और चारा मिलता नहीं है; क्या तो हम खायें और क्या इन पशुओं को खिलायें!

हमें पूगल के गाँवों के सीमान्त पर बहुत-से गाय-बैलों के कंकाल और लाशें देखने को मिलीं। पता चला कि वृद्ध बैलों और गायों को उनके मालिक जंगलों में छोड़ गये। वहाँ भूख, प्यास और गर्मी से इनके प्राण निकल गये। कई बार तो सिसकती हुई गायें भी दिखाई दीं। उनके लिये यथाशक्ति चारे-पानी की व्यवस्था की गई, परन्तु समस्या इतनी कठिन थी कि यह बन्दोबस्त बहुत थोड़े पैमाने पर ही हो सका। यह भी पता चला कि अच्छी हालत के द्विजाति के लोगों ने भी पानी और चारे की कमी के कारण बेकाम गाय-बैलों को मरने के लिये जंगल में छोड़ दिया है। ज्यादातर घरों में इस

पिछले पृष्ठ का शेषांश

शाखा-प्रशाखायुक्त विराट् वृक्ष में परिणत हो जाता है, तब उस छोटे-से बाड़ की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।''

उन्हें कभी सोचना नहीं पड़ता था – प्रसंग के अनुकूल उत्तर उनके पास हमेशा तैयार मिलता था। और 'जीवन का संघर्ष पूरा करने के बाद अब वे भलीभाँति निद्रामग्न हैं।' अब इस जीवन के किसी भी द्वन्द या कोलाहल के लिये उन्हें दुबारा नहीं जागना अथवा (मेरा विश्वास है कि) यह पार्थिव शरीर धारण करना पड़ेगा। चूँकि अब हम उन्हें फिर नहीं देख सकेंगे, हमें आशा करनी चाहिये कि उनकी मधुर आत्मा, इस वियोग तथा पीड़ामय जगत् के परे किसी सुदूर -वर्ती नक्षत्र में रहकर मनुष्यों की चेतना को नेतृत्व तथा प्रेरणा प्रदान करती रहेगी। भारत को अपने इस अमेरिका-प्रेमी पुत्र का महान् बिछोह सहना पड़ा है, जिन्होंने अपने धर्म का किसी भी मूलभूत तत्त्व का त्याग किये बिना ही उसमें ऐसे तत्त्व देखे, जिन्हे किसी ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था और उन्होंने अपने देशवासियों के सुख-समृद्धि के लिये अथक परिश्रम किया।* **(प्रबुद्ध भारत, मार्च १९६३)**

* जोसेफीन मैक्लाउड को लिखे २ सितम्बर १९०२ ई. के पत्र से

प्रकार की वारदात हो चुकी थी, इसलिये आपस की निन्दा-स्तुति की कोई गुंजाइश नहीं थी।

एक दिन दोपहर में वहाँ के एक गाँव में पहुँचा। धरती गर्मी से धू-धू करके जल रही थी। अंगारों के समान तपती हुई रेत की आँधी चल रही थी। तालाबों और कुओं में पानी कभी का सूख चुका था। लोग दस-पन्द्रह मील की दूरी से पानी लाकर प्यास बुझाते थे। अधिकांश लोग गाँव और इलाका छोड़कर जा चुके थे। कुछ ब्राह्मण और बनिये बचे हुये थे। यहाँ मैंने हमीद खाँ भाटी के बारे में सुना और उसके घर जाकर मिला।

घर कच्चा, पर साफ-सुथरा और गोबर से लिपा-पुता था। हमीद खाँ की उम्र पैंसठ-सत्तर वर्ष के लगभग थी। शरीर का ढाँचा देखकर पता लगा कि किसी समय वह काफी बलिष्ठ रहा होगा। अब तो हड्डियाँ निकल आयी थीं, चेहरे पर गहरी उदासी छायी हुई थी।

दुआ-सलाम के बाद मैंने पूछा – "खाँ साहब, गाँव के करीब सारे लोग जा चुके हैं, फिर आप यहाँ पर क्यों इस किल्लत में अकेले रह रहे हैं?"

वह कुछ देर तक तो मेरी तरफ फटी-फटी आँखों से देखता रहा, फिर कहने लगा – "अल्लाह मालिक है, उसी का भरोसा है। कभी-न-कभी तो वर्षा होगी ही। बच्चों और धन (यहाँ गाय-बैल, ऊँट आदि को धन कहते हैं) को लेकर बेटे-बहुएँ एक महीने पहले ही मालवा चले गये हैं। मुझे भी साथ ले जाने की बहुत जिद्द करते रहे, पर भला आप ही बताइये कि अपनी धौली और भूरी – दोनों को छोड़कर कैसे जाऊँ? इन दोनों से तो एक कोस भी नहीं चला जायेगा।" धौली और भूरी इसकी बूढ़ी गायें थीं, जिनमें एक लँगड़ी और बीमार थी।

हमीद खाँ कह रहा था – "आज इनकी यह हालत हो गयी है, नहीं तो दोनों ने, न जाने कितने नाहर-भेड़ियों से मुठभेड़ ली है। दूध भी इनके बराबर आसपास के गाँव में किसी गाय के नहीं था। तीन-चार सेर तो बछड़े ही पी जाते, फिर भी हर रोज दस-बारह सेर हमारे लिये बच जाता। ये दोनों मेरे घर की ही बेटियाँ हैं, जिस वर्ष मेरे छोटे लड़के फत्ते का जन्म हुआ था, उसके लगभग ही ये दोनों जन्मी थीं। बीस वर्ष तक हम लोग इनका दूध पीते रहे, अब आप ही बताइये बुढ़ापे में इन्हें कहाँ निकाल दूँ? भला कोई अपनी बहन-बेटी को घर से थोड़े ही निकाल देता है!"

बातें करते हुये उसकी आवाज रुँआसी हो आयी थीं। देखा – उसकी धुँधली आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे हैं। बातें तो और भी करना चाहता था, परन्तु इतने में सुनाई दिया कि बाहर के सहन में धौली और भूरी रँभा रही हैं, शायद भूखी या प्यासी होंगी। हमीद खाँ उठकर बाहर चला गया।

रात में गाँव के मुखिया पं. बंशीधर के साथ आठ-दस व्यक्ति मिलने आये। उनके कहने के अनुसार पिछले पचास वर्षों में ऐसा भयंकर अकाल नहीं पड़ा था। मैंने हमीद खाँ का प्रसंग उठाया, परन्तु वे लोग टाल गये। उन सबके चले जाने के बाद एक युवक ठहर गया। उसने बताया कि यद्यपि ये लोग गाँव में सबसे ज्यादा सम्पन्न हैं, परन्तु इन्होंने अपनी बूढ़ी गायों और बैलों को सबसे पहले घर के बाहर निकाल दिया। ये हमीद खाँ को पहले दर्जे का मूर्ख कहते हैं।

उसने यह भी कहा – "सच पूछिये तो हमीद खाँ भी कम जिद्दी नहीं है। अपने लिये दो जून खाना नहीं जुटा पाता, पर इन दोनों गायों पर जान देता है। दिन में धूप बहुत हो जाती है, इसलिये दो बजे रात में उठकर पाँच मील पार करके तालाब से दोनों के लिये एक मटका पानी लाता है। घरवाले जो अनाज छोड़कर गये थे, उसमें से बहुत-सा बेचकर इनके लिये चारा और भूसा खरीद लिया। जब वह चुक गया, तो अपना मकान पं. बंशीधर के यहाँ ब्याज पर गिरवी रखकर और चारा लिया है।" मुझे दूसरे दिन सुबह ही जैसलमेर की तरफ जाना था, इसलिये उस युवक को विदा किया।

इस तरफ गर्मी के मौसम में भी रातें ठण्डी हो जाती हैं, परन्तु मुझे नींद नहीं आ रही थी। सोच रहा था – "क्या वास्तव में ही हमीद खाँ मूर्ख और जिद्दी है? बातचीत से तो ऐसा नहीं लग रहा था! हाँ, एक बात समझ में नहीं आयी, वह तो मुसलमान है, जिसके लिये गौ 'माता' नहीं है, फिर क्यों वह इन दो बेकाम गायों के पीछे नाना प्रकार के कष्ट सहकर, तिल-तिल करके स्वयं मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा है। अपना एकमात्र मकान इनके चारे-पाले के लिये गिरवी रख दिया है। थोड़े दिनों बाद मूल और ब्याज बढ़कर इतना होगा कि चुकाना असम्भव हो जायेगा। जब उसके बाल-बच्चे मालवा से थके-हारे वापस आयेंगे, तो इन्हें शायद अपना यह पैतृक घर भी छोड़ देना पड़ेगा।"

जाने से पहले एक बार फिर हमीद खाँ से मिलने की इच्छा हुई। खूब सबेरे वहाँ जाकर देखा कि वह धौली और भूरी के शरीर पर तन्मय होकर हाथ फेर रहा है और वे दोनों बड़ी ही करुण दृष्टि से उसकी तरफ देख रही हैं – शायद कह रही होंगी कि सब गाँव छोड़ चले गये, फिर तुम इस प्रकार भूखे-प्यासे रहकर मृत्यु के मुख में जा रहे हो। हमें अपने भाग्य पर छोड़कर बच्चों के पास चले जाओ।

सोसायटी की ओर से थोड़ी-बहुत व्यस्था करके मन-ही-मन उस अपढ़ मुसलमान को प्रणाम करता हुआ भारी मन से मैं उस गाँव से रवाना हुआ। इतने वर्षों बाद आज भी हमीद खाँ का वह गमगीन चेहरा भुला नहीं सका हूँ। आज भी मन में जिज्ञासा बनी हुई है कि सच्चे गो-रक्षक उस गाँव के पं. बंशीधर और लाला रामकिशन हैं या हमीद खाँ भाटी! ❑❑

माँ की स्मृतियाँ (१)

लावण्य कुमार चक्रवर्ती

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

'जितना गुप्त उतना व्यक्त' – जननी सारदादेवी का जीवन-वेद इस कथन का एक उज्ज्वल दृष्टान्त है। महामाया गृहस्थ घर की कुलवधू के समान स्वयं को माया के आवरण में आवृत्त रखती थीं। ब्रह्म-शक्ति ने श्रीरामकृष्ण-सारदा के रूप में नर-नारी का शरीर धारण किया था। परन्तु अपूर्व एवं अनन्त भावों की गुणराशि श्रीरामकृष्णदेव के भावों का विकास तथा विलास उनके पार्षदों तथा मुमुक्षु दर्शकों की दृष्टि में थोड़ा-बहुत आने पर भी, महाशक्ति ब्रह्ममयी के जरा-सा भी भावों का विकास तथा विलास शायद ही कभी किसी के दृष्टि में आता था। वे इतनी गुप्त एवं गम्भीर थीं! जिज्ञासु भक्त जब श्रीरामकृष्ण के पार्षदों से माँ के बारे में पूछते, तो वे भी कुछ बोलना नहीं चाहते। पूज्यपाद स्वामी प्रेमानन्द कहते – "माँ को किसने जाना है, किसने समझा है?" बात समाप्त कर – "जय माँ, जय माँ" – कहते। उन्हीं के मुख से सुना है, श्रीरामकृष्ण के मूर्त भाव-विग्रह, मूर्त वेदान्त-विग्रह, प्रधान सन्देशवाहक पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द एक बार माँ का दर्शन करने बेलूड़ मठ से बागबाजार चले। साथ में गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द थे। नाव से जा रहे थे। बरसात का समय था। गंगा के मटमैले पानी से दोनों पाट भरे हुए थे। स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। करीब १०२ डिग्री बुखार था। सहसा तुरीयानन्दजी ने देखा कि स्वामीजी गंगाजी का मटमैला जल अंजलि में लेकर पी रहे हैं और अपने सिर पर छिड़क रहे हैं। तुरीयानन्दजी ने कहा – "ऐसा करने से और भी बीमार हो सकते हैं!" इस पर स्वामीजी बोले – "माँ के पास जा रहा हूँ, भाई। तन-मन में यदि कहीं अपवित्रता छिपी हो, तब तो सर्वनाश ही हो जायेगा! इसीलिए मन को बड़ा भय लग रहा है।"

स्वामीजी के इस कथन से हमें उन महा-शक्तिमयी श्रीरामकृष्ण-लीला-संगिनी का थोड़ा-सा परिचय मिल जाता है। स्वामी विवेकानन्द युगाचार्य हैं, योगाचार्य तथा यज्ञाचार्य हैं, श्रीरामकृष्ण-भावधारा या सन्देश के प्रधान सन्देशवाहक तथा व्याख्याता हैं। श्रीरामकृष्ण के कहने से ही हम जानते हैं कि स्वामीजी सप्तर्षि-मण्डल के प्रधान ऋषि हैं, विश्व के अमंगल का नाश करने के लिये साक्षात् शिव ही नरदेह में अवतीर्ण हुए हैं। पहले श्रीरामकृष्ण के कुछ भक्त भी अपने जातिगत अभिमान या जन्मगत संस्कार या संस्कारप्रसूत अहंकार के वशीभूत होकर स्वामीजी को लौकिक दृष्टि से देखते थे कि वे कायस्थ विश्वनाथ दत्त के पुत्र नरेन्द्रनाथ दत्त हैं। किसी-किसी के मन में यह बात उठती कि श्रीठाकुर और माँ के साथ क्या यह कायस्थ-पुत्र भी पूजा-प्राप्ति के योग्य है? इसीलिए पूर्वी बंगाल के कुछ भक्तों ने अपने आश्रम के पूजाग्रह में ठाकुर तथा माँ के चित्र के साथ स्वामीजी के चित्र की स्थापना नहीं की। इसकी सूचना पाकर माँ ने उन भक्तों के ब्राह्मणत्व के अभिमान को चूर्ण-विचूर्ण करते हुए तीक्ष्ण कण्ठ से घोषणा की थी – "जहाँ नरेन की पूजा नहीं होती, ठाकुर भी वहाँ की पूजा ग्रहण नहीं करते।" यह घटना हमने स्वामी सारदानन्द तथा प्रेमानन्दजी के मुख से सुनी है।

एक अन्य घटना भी सप्रमाण ज्ञात है, उसे भी यहाँ बताता हूँ। पूर्वी बंगाल के ही कुछ अन्य भक्तगण अपने आश्रम के पूजागृह में एक ही पंक्ति में ठाकुर, माँ और स्वामीजी के चित्र रखकर उनकी पूजा करते थे। एक बार वे लोग बागबाजार के मातृभवन में माँ का दर्शन करने आये। उनमें से किसी-किसी के मन में यह संशय था कि ठाकुर और माँ के साथ उसी पंक्ति में उनके शिष्य की स्थापना क्या उचित हैं? क्या माँ की इस विषय में सहमति है? इसीलिए उन लोगों ने खूब डरते-डरते जो कुछ हो रहा था, वह माँ को सूचित किया। उन्होंने देखा, माँ का चेहरा खूब गम्भीर हो उठा। इससे वे लोग बड़े भयभीत हो गये। तो क्या इस प्रकार स्वामीजी की पूजा करने में माँ की सहमति नहीं है! सहसा माँ गम्भीर स्वर से बोलीं – "ठाकुर रहते, तो क्या ऐसा करने देते?" कई भक्तों के हाथ-पाँव काँपने लगे। माँ कहती रहीं – "ठाकुर रहते तो क्या नरेन को बगल में बैठाते? वे नरेन को गोद में लेकर बैठते। नरेन उनके मस्तक का मणि था!" आनन्द से भक्तों के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा। इसके बाद भी क्या उनके लिये कुछ कहने या सोचने को बाकी बचा था?

अपनी आँखों से देखा है और अन्य प्रत्यक्षदर्शियों के मुख से भी सुना है कि पूज्यपाद स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज माँ

का दर्शन करने जाते, तो काँपने रहते। ठीक से बोल भी नहीं पाते। साधु नाग महाशय काँपते हुए 'माँ के घर' की सीढ़ी तक जाने के बाद भी 'माँ के मन्दिर' तक नहीं जा पाते थे। उन्हें प्राय: उठाकर ही ले जाना पड़ता। इस प्रकार की और भी अनेक घटनाएँ हैं। इसलिए माँ के बारे में हम क्या कह सकते हैं और कहने को है भी क्या? हम लोग तो तुच्छो से भी तुच्छ हैं, परन्तु कह नहीं सकता, यह हमारा सौभाग्य है या दुर्भाग्य कि उनके जिज्ञासुओं के प्रबल आग्रह पर माँ के इस पदाश्रित सन्तान को उनके बारे में कुछ कहना पड़ेगा।

मैंने देखा है कि उन दिनों माँ के कृपाप्राप्त दीक्षित भक्तों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी माँ का चित्र तक नहीं दिया जाता था। वैसे आजकल तो निश्चय ही घर-घर में, थियेटर-सिनेमा, हाट-बाजार सर्वत्र माँ का चित्र दिखाई पड़ जाता है। माँ परदे में रहने की अभ्यस्त थीं और उनके पार्षदगण बड़ी सावधानी से उनके परदे की व्यवस्था करते थे। नि:सन्देह वे ऐसा लोक-कल्याणार्थ ही करते थे। पूज्यपाद स्वामी सारदानन्द महाराज ने एक बार मुझे लेखन के विषय में उपदेश देते हुए कहा था – "माँ की बातें यदि उद्धृत करना, तो बड़े हिसाब के साथ करना। ठाकुर की उक्तियों का उल्लेख कर सकते हो, लेकिन उसे भी खूब सतर्कता के साथ करना।"

आज हम लोग अवाक् होकर विस्मयपूर्वक देख रहे हैं कि बड़ी संख्या में धर्मपिपासु लोग श्रीरामकृष्ण की भावधारा के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं। उन्हीं के पार्षदों के मुख से सुना है, श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था – "देख, जिसने एक बार भी मन-वचन-कर्म से भगवान को पुकारा है, उसे यहाँ आना ही होगा।" वैसा ही हो रहा है। वे योगेश्वर हैं, उनकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं हो सकती।

स्वामीजी ने कहा है – "जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से समग्र जगत् में एक जागरण हुआ है, उसके पूर्ण विकास की कल्पना करो।" इससे भी अधिक आश्चर्य के साथ देख रहा हूँ कि कुछ समय से जो लोग इस भावधारा के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं, उनका प्रधान आकर्षण माँ की बातें जानने और सुनने का है। माँ महाशक्ति हैं, उनके विकास-वैभव के बारे में जिज्ञासुओं को अल्प ही ज्ञात है। यहाँ तक कि कुछ भी जानकारी नहीं है, केवल नाम मात्र ही सुनने में आया है।

एक महत्त्वपूर्ण घटना की याद आ रही है। यह घटना मुझे स्वामी अभेदानन्दजी महाराज से सुनने को मिली थी। उन्होंने माँ के विषय में एक स्तोत्र-गीति की रचना की थी। उनकी इच्छा थी कि उसे माँ को सुनायेंगे। उन्होंने जब अपनी इच्छा माँ के समक्ष व्यक्त किया, तो वे चौंककर बोलीं – "कैसा स्तोत्र? किसका स्तोत्र?" महाराज विनीत कण्ठ से बोले – "माँ, आपका स्तोत्र।" माँ अत्यन्त आश्चर्यचकित हुईं और बोलीं – "बेटा, मेरा कैसा स्तोत्र?" परन्तु परम भक्त के अटल आग्रह पर वे स्थिर भाव से वह प्रसिद्ध स्तोत्र सुनने लगीं – "प्रकृतिं परमाम्" आदि। जब अभेदानन्द महाराज ने गाया – "रामकृष्णगत प्राणाम्", उस समय देखा गया कि इसे सुनकर माँ निस्पन्द हो गयी हैं। "तन्नाम-श्रवण-प्रियाम्" – उच्चारण करते ही उनके दोनों नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। "तद्भाव-रंजिताकाराम्" – कहने के बाद अभेदानन्दजी ने देखा कि अब माँ वहाँ नहीं हैं, ठाकुर बैठे हैं अथवा वे स्वयं ही ठाकुर में परिणत हो गयी हैं। महाराज घुटनों के बल बैठकर वह स्तोत्र गा रहे थे। वे भी मानो अपने आप में नहीं रहे। उन्होंने और भी क्या देखा, यह हम लोगों को नहीं बताया। लेकिन इस न कहने में ही हमें काफी कुछ नित्य नवीन भाव प्राप्त हो रहे हैं।[१]

१९१२ का नवम्बर माह। मैं वाराणसी गया था। अगले दिन शाम को श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम में जाकर देखा पूज्य श्री 'म' (महेन्द्रनाथ गुप्त) एक ग्रन्थ का पाठ कर रहे थे और उनके चारों ओर कुछ श्रोता बैठकर सुन रहे थे। पूज्यपाद हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) बगल की खाली जगह में अपने आप में डूबे टहलते हुए पाठ सुन रहे थे।

मेरी तरफ दृष्टि पड़ते ही मास्टर महाशय अपने स्वभाव सुलभ ढंग से बोल उठे – "कब आये? बैठकर पढ़ो, बाद में बातें होंगी।" मैं बैठ गया। कुछ देर बाद पाठ समाप्त होने पर बोले – "गोपी-गीता पढ़ी है?" मैंने कहा – "व्यवस्थित रूप से तो नहीं, यूँ ही थोड़ी-बहुत पढ़ी है।"

– "पढ़िएगा, अद्भुत चीज है।"

– "पढ़ूँगा" – कहकर मैं मन-ही-मन हँसा – "अद्भुत तो है ही ! पर आपके लिये तो और भी अद्भुत है, क्योंकि मैं जानता हूँ, आप भी उस व्रजलीला के एक अंशीदार थे।"

कुशल-क्षेम पूछने के बाद वे बोले – "सड़क के उस पारवाले मकान लक्ष्मी-निवास में माँ हैं, प्रणाम कर आइये।"

उस समय लगभग रात हो चली थी। मैं माँ के श्रीचरणों का दर्शन करने चला।

---

१. स्वामी अभेदानन्द महाराज ने माँ को अपना 'श्रीसारदा-स्तोत्र' बेलूड़ के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के उद्यान-भवन में सुनाया था। माँ ने इस मकान में १८८८ ई के मई महीने के मध्य से लेकर अक्तूबर तक करीब छह महीने निवास किया था। भक्तों के प्रयास और आर्थिक सहयोग से उनके लिए यह मकान किराये पर लिया गया था। इसी दौरान किसी एक दिन अभेदानन्दजी ने माँ को अपना स्तोत्र सुनाया था। यह स्तोत्र सुनने के बाद माँ ने प्रसन्न होकर महाराज को आशीर्वाद दिया था – "तुम्हारे कण्ठ में सरस्वती विराजेंगी।" इन दिनों माँ के साथ प्रधानत: गोलाप-माँ और योगीन-माँ रहती थीं और स्वामी योगानन्द सेवक थे। (द्र. 'रामकृष्ण मठेर चतुर्थ पर्याय' (बंगला ग्रन्थ), स्वामी प्रभानन्द, उद्बोधन, वर्ष ९३, अंक ६, पृ. २९७-९८)

कैंटोमेंट रोड को पार करके मैं लक्ष्मी-निवास की ओर चला। दाँयी ओर खाली जगह थी और बाँयी ओर लाइन से कच्चे मकान थे। देखकर लगता था कि नयी-नयी बस्ती है। थोड़ी दूर चलने पर, सौ-डेढ़ सौ हाथ के बाद गली मिली। बीच रास्ते में ब्रह्मचारी रासबिहारी महाराज से मुलाकात हुई। वे लक्ष्मी-निवास से अद्वैत आश्रम को जा रहे थे। आपस में कुछ बातें हुईं। उन्होंने पूछा – "मास्टर महाशय में कोई परिवर्तन दिखा क्या?" मैं समझ नहीं सका कि वे कैसे परिवर्तन की बात कर रहे हैं। दो-चार बातों के बाद बोले – "उनकी एक अत्यन्त प्रिय पुत्री का मुम्बई में विसूचिका (कॉलरा) से देहान्त हो गया है। कुछ ही घण्टे पूर्व टेलीग्राम आया है। देखिए, मैं तो संसार त्यागकर आया हुआ ब्रह्मचारी हूँ, लेकिन लगता है कि किसी निकट सम्बन्धी के इस प्रकार आकस्मिक मृत्यु का संवाद पाने के थोड़ी ही देर बाद इस प्रकार निर्विकार नहीं रह सकता। मास्टर महाशय गृही और हम लोग त्यागी हैं। जरा सोचिए तो, वे कितने महान् हैं!"

मैं विस्मित होकर सोच में पड़ गया। उसके बाद रासबिहारी महाराज मुझे माँ के निवास-स्थान के बारे में निर्देश देकर चले गये। मैंने देखा और भी दो युवक मेरे पीछे-पीछे माँ का दर्शन करने आ रहे हैं। उनका घर कोलकाता के भवानीपुर में है। देश-भ्रमण हेतु निकले हैं। लगा कि मास्टर महाशय से मेरी बातचीत सुनकर ही उनकी माँ के दर्शन इच्छा हुई है।

निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर मुझे कोई नहीं दिखाई दिया। रासबिहारी महाराज ने कहा था कि माँ दुमंजले के बरामदे में बैठी हैं, मगर वहाँ कोई दिखाई नहीं दे रहा था। बस, एक कोने में सिर से पाँव तक एक मोटी चादर ओढ़े किसी प्राणी के बैठे होने का अनुमान हो रहा था। मैं स्वगत में कुछ बोलने लगा, थोड़ी आवाज भी की, परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। विवश होकर थोड़ी दूर से ही प्रणाम किया। यह प्राणी माँ ही हैं, यह समझने में देरी नहीं लगी। उनके श्रीचरण कहाँ हैं – यह न समझ पाने के कारण चरणधूलि की आशा त्यागकर नीचे चला आया। दोनों संगी भी चले आये। मन बड़ा दुखी हो गया था। मन को हल्का करने के लिए विश्वनाथ और गंगा का दर्शन के लिए चला।

विश्वनाथ की गली में दूसरी ओर से आते मास्टर महाशय से भेंट हुई। उन्होंने – "अरे, आप!" कहकर मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया। फिर पूछा – "माँ का दर्शन हुआ?"

मैंने व्यथित कण्ठ से कहा – "मास्टर महाशय, दूर से प्रणाम हुआ है और एक कपड़े की पोटली का दर्शन हुआ है।" "यह क्या!" कहकर उन्होंने सारी बातें सुनीं। थोड़ी देर चुप रहने के बाद वे बोले – "क्या आप अकेले थे?"

– "नहीं, और भी दो युवक थे।"

– "आपके परिचित थे?"

– "नहीं, आपकी बातें सुनकर वे लोग भी माँ को देखने गये थे।"

मास्टर महाशय हँस पड़े। बोले – "संगदोष से आपको मातृ-दर्शन नहीं हुआ। आप गये थे मातृ-दर्शन के लिए और वे लोग गये थे, परमहंसदेव की पत्नी को देखने। परमहंस तो विख्यात व्यक्ति हैं, देखेंगे कि उनकी पत्नी कैसी हैं!"

मैं भी हँसा। इसके बाद वे बोले – "कल सुबह गंगा में नहाकर कुछ फूल-बेलपत्र, फल, मिठाइयाँ लेकर जाइयेगा। अकेले, अकेले।" ये बातें उन्होंने बड़े धीमे स्वर में कहीं। मानो अत्यन्त गुप्त बात हों। – "किसी को पीछे आते देखिएगा, तो इधर-उधर घूमकर उसे भुलावा देकर अकेले ही जाइयेगा।" उसके बाद वे अद्वैत आश्रम की तरफ और मैं विश्वनाथ मन्दिर की ओर चला गया।

अगले दिन सुबह गंगास्नान करने गया, तो दशाश्वमेध घाट का रास्ता भूलकर प्रयाग घाट पहुँच गया। दो वर्ष पूर्व दिवंगत अपने परिचित एक साधु का स्मृति-मन्दिर मैंने प्रयाग घाट में देखा, जिसे पहले मैं व्यर्थ ही अन्य घाटों पर खोज रहा था। अस्तु, नहाने के बाद रास्ते के किनारे से फूल-बेलपत्र, कुछ फल तथा छेने की मिठाई लेकर लक्ष्मी-निवास की ओर चला। रास्ते में कोई प्रतिकूल या अप्रीतिकर घटना नहीं हुई। मुख्य रास्ते से गली में घुसते ही देखा, लक्ष्मी-निवास के मुख्य द्वार पर आधा घूँघट काढ़े एक महिला गाल पर हाथ रखे खड़ी हैं। सोचा – तो क्या ये माँ हैं? पिछली संध्या की बात याद आयी। कल और आज में कितना भेद है! मेरा ऐसा सौभाग्य! माँ जैसे दूर देश से आनेवाले सन्तान के आगमन की प्रतीक्षा में राह देखती रहती है, ठीक वैसे ही खड़ी हैं। इसी प्रकार सोचते हुए मैं सहसा माँ के सामने पहुँचकर अनजाने ही उनसे टकराते-टकराते बचा। उनके चेहरे की ओर देखकर पूछा – "क्या तुम माँ हो?"

– "हाँ बेटा, मैं तुम्हारी माँ हूँ।"

– "मेरी माँ!"

– "हाँ, मैं तुम सभी की माँ हूँ।"

– "हम लोगों की माँ!"

– "हाँ बेटा, मैं जगत् की माँ हूँ।"

मन-ही-मन सोचा – अब समझा, तुम जगदम्बा हो। मुझे प्रणाम करने को प्रस्तुत होते देखकर माँ बोलीं – "थोड़ा रुको बेटा।" फिर पुकारा – "केष्टोलाल, ओ केष्टोलाल।" कृष्णलाल महाराज (स्वामी धीरानन्द) दौड़ते हुए आये। मुझे उस हालत में देखकर आनन्दपूर्वक हँसने लगे। ये मेरे पूर्व-परिचित थे और ये लोग किसी भक्त के प्रति माँ की कृपादृष्टि देखकर सहज ही आनन्द पाते हैं। माँ बोलीं – "लड़के के हाथ से यह सब लेकर ठाकुर-घर में रखो। मैं गंगा-स्नान के

बाद आकर ठाकुर को पूजा और भोग दूँगी।'' कृष्णलाल महाराज के फैले हुए हाथों में सब कुछ अर्पण करने के बाद मैं ज्योंही पुन: माँ को प्रणाम करने को प्रस्तुत हुआ, वे बोलीं – ''थोड़ी देर और ठहरो, बेटा।'' फिर कृष्णलाल महाराज से कहा – ''एक घड़ा गंगाजल लेकर आओ।'' कृष्णलाल महाराज जल्दी से पूजा की सामग्री को ठाकुर-घर में रखकर एक घड़ा गंगाजल ले आये। माँ बोलीं – ''लड़के के हाथ धुला दो।'' वैसा ही हुआ। तब मैंने उन्हें जी-भर प्रणाम किया। हृदय आनन्द से भरपूर हो गया। लेकिन मन के कोने में थोड़ा संशय उपजा – ''गंगाजल क्यों? तो क्या मुझ अपवित्र को माँ ने पवित्र किया?''

मन की बात अन्तर्यामिनी माँ ने जान लिया। मृदु हँसी के साथ वे बोलीं – ''जिस हाथ से तुम ठाकुर की पूजा की सामग्री लाये हो, वह हाथ तो मेरे पाँवों में नहीं लगाया जा सकता, बेटा! इसीलिए तुम्हारा हाथ धुलवाया।''

मैं कोई उत्तर न दे सका। मैं चाहकर भी अपने आँसुओं को बहने से नहीं रोक सका।

उसके बाद बहुत-सी बातें हुईं। घर-बार तथा परिवार की सारी बातें उन्होंने एक-एक कर पूछा। मैं बचपन से ही मातृहीन हूँ – यह सुनकर ''अहा'' – कहकर माँ मेरे सिर पर हाथ फेरकर बोलीं – ''मैं तो तुम्हारी माँ हूँ न, बेटा।'' मैंने रुँधे गले से कहा – ''हाँ, मैंने अपनी माँ को पा लिया है।''

विदा लेते समय माँ बोलीं – ''जितने दिन यहाँ हो, हर रोज एक बार आना। मैं न दिखूँ, तो 'माँ-माँ' कहकर आवाज देना।'' ''अच्छा माँ'' – कहकर मैं धीरे-धीरे चला। बार-बार मुड़कर देखता रहा। देखा, माँ खड़ी होकर मेरी ही ओर देख रही हैं। रुलाई से मेरी छाती फटी जा रही थी।

लौटकर मैं माँ के मुख की ओर देखकर बोला – ''हाँ, कुछ और भी कहना है।''

माँ ने कहा – ''और क्या बेटा?''

मैं – ''मुझे और क्या चाहिए – तुम नहीं जानती, माँ?''

उत्तर में माँ बोलीं – ''जानती हूँ बेटा। पर यह अन्नपूर्णा-विश्वनाथ का क्षेत्र है। यहाँ हमें दीक्षादान का अधिकार नहीं है। तुम्हारा कोलकाता में होगा, खोज-खबर रखना।

प्रसंगवश यहाँ एक अन्य बात का उल्लेख कर रहा हूँ। मुझे बाद में पता चला कि काशी में माँ किसी को दीक्षा नहीं देतीं; क्योंकि ऐसा करने पर, मंत्र तथा धाम के माहात्म्य से दीक्षित भक्त तत्काल मुक्त हो जायेगा। इससे उसका जीवन काल समाप्त हो जायेगा और उसका कार्य बाकी रह जायेगा। प्रधानत: इसीलिए वे वहाँ दीक्षा नहीं देतीं और वह अन्नपूर्णा-विश्वनाथ का क्षेत्र तो है ही।

''होगा! होगा! अब और क्या चाहिये!'' – मेरी उस समय इमली के पेड़ के नीचे बैठे भक्त शान्तिराम की-सी दशा हो रही थी। बैकुण्ठ से लौटे नारद ऋषि ने शान्तिराम को बताया – ''इस इमली के पेड़ में जितने पत्ते हैं, उतने जन्मों बाद तुम्हारी मुक्ति होगी।'' शान्तिराम आनन्द से नाचने लगे – ''होने दो इतने जन्म! चलो, मुक्ति तो होगी!''

लेकिन मुख्य रास्ते पर जाते-जाते मेरे भाव में परिवर्तन हुआ। सोचने लगा – मैं कैसा बुद्धू हूँ, हठपूर्वक कहने पर शायद करुणामयी माँ कहतीं – ''ठीक है, अमुक दिन अमुक समय पर आ जाना।''

मन दुखी हो गया। फिर उसी विश्वनाथ की गली में, फिर वही मास्टर महाशय से मिलना! फिर वही – ''अरे, तुम।'' उन्होंने फिर कन्धे पर हाथ रखकर पूछा – ''माँ का दर्शन हुआ?'' मैंने सब बताया। अपने मन के भाव में परिवर्तन की बात कही। मास्टर महाशय दृढ़तापूर्वक बोले – ''भले ही चन्द्र-सूर्य रसातल में चले जायें, भले ही पृथ्वी उलट जाये, परन्तु माँ की वाणी व्यर्थ नहीं जायेगी।'' मैं फिर चैतन्य हो उठा। आज भी कानों में वही कण्ठ स्वर बजता है – ''भले ही चन्द्र-सूर्य रसातल में चले जायें, ... परन्तु माँ की वाणी व्यर्थ नहीं जायेगी।''[२]

शाम को अद्वैत आश्रम में श्री'म' मुझे दिखाते हुए पूज्य हरि महाराज से बोले – ''कल और आज जो घटना मैंने आपको बतायी, वह इसी भक्त की है।'' हरि महाराज सहास्य मेरी ओर देखकर केवल इतना ही बोले – ''धन्य हो!''

उसके बाद यथासमय मैं घर लौटा। प्राणों में दीक्षा पाने की तीव्र आकांक्षा रहते हुए भी, मन में ऐसी भावना दृढ़ हुई कि दीक्षा के लिए किसी भी हालत में मैं स्वयं माँ के पास नहीं जाऊँगा। माँ ने कहा है – ''तुम्हारी दीक्षा कोलकाता में होगी।'' इस वचन को निष्फल सिद्ध करूँगा। यह बड़ा ही विचित्र ख्याल था! तो भी यह विचार मुझ पर छाया रहा। भक्त कवि रामप्रसाद का तो वही भाव था – ''आओ माँ साधन समर में। देखूँ माँ हारती है या पुत्र!'' निश्चय ही यहाँ यह तुलना सटीक नहीं है, तो भी भाव उसी प्रकार का है।
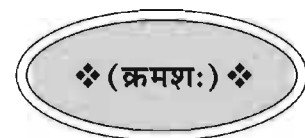
२. श्रीम या मास्टर महाशय के साथ लेखक की बातचीत तथा उससे जुड़ी माँ की बातों के विस्तृत विवरण हेतु देखिये – 'श्रीम स्मृतिकथा', लावण्य कुमार चक्रवर्ती, उद्बोधन, बंगला वर्ष १३४२ के बैशाख तथा श्रावण अंक (यह 'स्मृतिकथा' स्वामी चेतनानन्द द्वारा सम्पादित 'श्रीम समीपे' ग्रन्थ, (१९९६ पृ. ५९-६८) में भी प्रकशित हुई है।) – सं.

दैवी सम्पदाएँ (२३) धृति या धैर्य

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

धृति तेईसवीं दैवी सम्पत्ति है। धारणार्थक धृ-धातु में क्तिन् प्रत्यय लगने से धृति बनता है। इसका अर्थ है, जिससे धारण किया जाय – **ध्रियते धार्यते वा अनया इति धृतिः** अर्थात् मनुष्य की वह शक्ति अथवा मानसिक अवस्था जो उसके भाव को, मूल प्रकृति को यथास्थित रखती है। उसमें किसी प्रकार का विकार, परिवर्तन, विचलन, उद्वेलन, अशान्ति तथा असन्तुलन नहीं होता। भय, आशंका व बुद्धि की अस्थिरता का अभाव होता है। सुख-दु:ख, मानापमान, हर्ष-विषाद, जय-पराजय, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वात्मक भावों को सहने की सामर्थ्य बनी रहती है। भूख-प्यास सर्दी-गर्मी आदि को उनके निराकरण के उद्यम के साथ चुपचाप सहा जाता है। कर्म का उत्साह परिणाम तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु उसकी धारा सतत प्रवाहित होती रहती है। परिणाम की अन्तहीन प्रतीक्षा का औत्सुक्य भंग नहीं होता और भीषणतम परिस्थितियों में भी साहस नहीं टूटता। विघ्नों के भय से कर्म का अनारम्भ या मध्य में विश्रान्ति नहीं होती। महर्षि व्यास के शब्दों में धृति वह है, जिससे सुख-दु:ख में कोई विक्रिया (विकृत क्रिया, विकार) नहीं होती – **धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथाप्नोति न विक्रियाम्**।[1] आचार्य शंकर के अनुसार देह और इन्द्रियों का अवसाद प्राप्त होने पर उसका प्रतिषेध करनेवाली अन्त:करण की वृत्तिविशेष धृति है, जिससे उत्तेजित इन्द्रियाँ और देह खिन्न नहीं होती।[2] श्रीधर ने दु:खादि से विषण्ण मन को स्थिर करना धृति कहा है।[3] गीता के अनुसार किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में विचलित न होकर अपनी प्रकृत स्थिति में कायम रहने की शक्ति का नाम धृति है।[4] यह सत्य का एक रूप है।[5] धर्म के दस लक्षणों में इसकी गणना है।[6] यह सात्त्विक भाव है। गीता में आश्रय भेद से इसके तीन रूप निरूपित हैं –
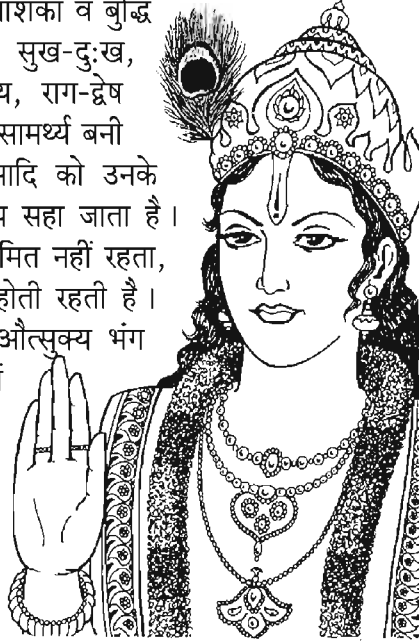
(१) सात्त्विकी धृति – वह शुद्ध धृति, जिसके द्वारा मन, प्राण व इन्द्रियों की क्रियायें योगपूर्वक धारण की जाती हैं।[7]

(२) राजसी धृति – जिसके द्वारा धर्म, काम एवं अर्थ की धारणा होती है। प्रसंग से ही फल की आकांक्षा होती है।[8]

(३) तामसी धृति – जिससे स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद की दुष्ट बुद्धि नहीं छोड़ती।[9]

सात्त्विकी धृति में कर्ता निर्लिप्त रहता है। उसे फल की आकांक्षा नहीं होती। राजसी में फलाकांक्षी और तामसी में दुर्मेधा होती है। प्रथम संन्यास योग की अवस्था है। सात्त्विक वृत्तियों की धारणा नि:स्पृह भाव से होती है। द्वितीय में धर्मयुक्त कर्म करता है। तृतीय में दुष्प्रवृत्तियाँ हठपूर्वक धारित होती हैं। उनके त्याग का प्रयास नहीं किया जाता।

शौर्य और धैर्य जीवन-रूपी रथ के दो चक्के हैं – **सौरज धीरज तेहि रथ चाका**। विपरीत परिस्थितियों का साहस के साथ सामना करना शौर्य है और अन्त तक साहस न खोते हुये विवेक-सम्मत निर्णय लेना धैर्य है। लोग शौर्य तो दिखाते हैं, पर धैर्य नहीं रख पाते। निर्णय शीघ्र पाने की लालसा में शौर्य को दाँव पर लगा देते हैं। परिणाम की प्रतीक्षा करना नहीं चाहते। जिससे संकट गहरा हो जाता है और लक्ष्य का केन्द्रीयकरण नहीं हो पाता। धैर्य से व्यक्ति सूर्य की भाँति संकट-मेघों का भेदन कर उन पर विजय पा सकता है। शौर्य और धैर्य तुला के दो पलड़े हैं। शौर्य का पलड़ा सदैव ऊपर आने का प्रयास करता है, जिसे धैर्य ही सम बनाता है। धैर्य से काम, क्रोध, लोभ, मोह की वृत्तियों पर विजय मिलती है। धैर्य से ही काम से प्रेम-रसायन बनता है। अधैर्य की दशा में तो वह वासनापूर्ण बर्बरता है। पूरा सोना एक साथ पाने के लोभ में प्रति दिन सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी का मारना अधैर्य ही तो है। लोभ में जब धैर्य छूट जाता है, तब आपदा आने में देर नहीं लगती। क्रोध में हम क्रोध-पात्र पर सहसा टूट पड़ते हैं। शौर्य उद्दीप्त हो जाता है। उसे हम दण्डित करना चाहते हैं। परिणाम की चिन्ता नहीं होती।

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, १६२/१२

२. धृतिः देहेन्द्रियेषु अवसादं प्राप्तेषु तस्य प्रतिषेधकः अन्तःकरणवृत्तिविशेषो येन उत्तम्भितानि कारणानि देहश्च न अवसीदन्ति। गीताभाष्यम्,१६/३

३. धृतिः दुःखादिभिरवसीदतश्चित्तस्य स्थिरीकरणम्। श्रीधरी टीका

४. गीता, १८/३३ ५. महाभारत, १६२/८/४ ६. मनुस्मृति

७-८ तथा ९. गीता १८/३३-३५

ऐसे में धैर्य से काम लें, तो विपरीत स्थितियों की मेघ-मालायें छँट सकती हैं। भोगों की आसक्ति, उनके प्रति मोह तभी होता है, जब धैर्यपूर्वक उनकी अनित्यता का विचार नहीं होता।

धृति की विशिष्टताएँ

(१) इसमें बुद्धि निश्चयात्मक, विवेकपरक और क्रियाशील रहती है।

(२) मन आत्मवश्य, स्थिर और निगृहीत रहता है।

(३) मानसिक शान्ति रहती है। मन में तनाव नहीं आता। किसी पर क्रोध नहीं होता। निर्वैरता एवं मैत्रीभाव होता है।

(४) सुख-दु:ख और शुभाशुभ में सम भाव रहता है। हर्षामर्ष के भाव नहीं होते।

(५) राग, मोह, भय, शंका व संभ्रम की स्थिति नहीं होती।

(६) उत्साह, साहस, शौर्य तथा तेज क्षीण नहीं होता।

(७) आपत्ति-विपत्ति में न तो घबराहट होती है और न लक्ष्यभेद का उद्देश्य च्युत होता है।

(८) सहिष्णुता बनी रहती है। क्षमा में कृपणता नहीं आती।

धृतिमान पुरुष के गुण

धृति को धारण करनेवाला पुरुष धृतिमान अथवा धीर है। उसके कुछ गुण इस प्रकार हैं –

(१) धीर वह है, जिसके चित्त में विकार का हेतु होने पर भी विकार नहीं होता – **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः**। (कुमार-सम्भवम्, १/५२)

(२) धीर शान्त होता है, उसे शान्ति उपलब्ध होती है – **धीरो लब्धोपशान्तिः**।

(३) धीर महान् विपत्ति में धीरता धारण करता है – **विपत्तौ च महांल्लोके धीरतामनुगम्यति, सम्पत्तौ विपत्तौ च महतामेकरूपता, विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा**।

(४) वह आत्मा को महान् और विभु मानता है, इसलिये अनित्य वस्तुओं के लिये शोक नहीं करता – **महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा धीरो न शोचति**। (कठोपनिषद्)

(५) वह अमृतत्व को जानता है, इसलिये वह अनित्य भोगों से नित्यसुख की लालसा नहीं करता – **धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवम् अध्रुवेषु इह न प्रार्थयन्ते**।

(६) वह समस्त जीव तथा वनस्पति जगत् में उसी चेतन आत्मा को जानकर इस लोक से जाकर अमर हो जाता है – **भूतेषुभूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**।

(७) वह अनित्य वस्तुओं से मोहित या आसक्त नहीं होता। वह जानता है कि जैसे शरीर में कौमार्य, यौवन और वार्धक्य आता है, अन्त में मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है। उसमें आसक्ति व्यर्थ है –

देहिनोऽस्मिन तथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति।। गीता, २/१३

(८) जिसे सांसारिक अनित्य भोग व्यथित नहीं करते और जो सुख-दु:ख में समान रहता है, वही धीर अमृतत्व पाता है –

यं हि न व्यथयन्तयेते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।। वही, २/१५

(९) धीर गुणातीत अर्थात् सत्त्व, रजस् एवं तमस् के प्रभावों से मुक्त होता है। वह सुख-दु:ख प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु और सकाम कर्मों का त्याग करने वाला होता है। (गीता, १४/२४-२५)

(१०) श्रेय और प्रेय, भिन्न-भिन्न हैं। धीर पुरुष उनका विवेक -पूर्वक वरण करता है – **श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः**। (कठ. १/२/२)

(११) धीर हिमालय के समान अचल होता है, चाहे नीति-निपुण लोग उसकी निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी रहे या चली जायें, आज ही मृत्यु हो या युगों बाद, किन्तु वह न्याय के पथ से एक कदम भी इधर-उधर नहीं होता –

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथात् प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

(१२) वह अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुये उत्साहपूर्वक कर्म करता है, चाहे उसे अर्थ, सुख एवं कीर्ति मिले या अकल्याण हो, तो भी वह कर्म से विरत नहीं होता –

अर्थ:सुखं कीर्तिरपीह मा भूदनर्थ एवास्तु तथापि धीराः।
निजप्रतिज्ञामधिरुह्यमाना महोद्यमाः कर्म समारभन्ते।।

धीर – स्थितप्रज्ञ, भक्त और योगी

धीर तथा स्थितप्रज्ञ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो धीर है, वह स्थितप्रज्ञ होगा ही। उसकी प्रज्ञा चलायमान नहीं होती। वह दु:खों में अनुद्विग्न, सुखों में विगतस्पृह और राग, भय तथा क्रोध से परे होता है। वह शुभ का अभिनन्दन और अशुभ से द्वेष नहीं करता। (गीता, २/५६-५७)

धीर और भक्त की कक्षा और श्रेणी एक है। भक्त का सम्बल आस्था तथा विश्वास है। इनके बिना धीर की धीरता भी आधारहीन है। धैर्य भावहीन, निरालम्ब तथा निरपेक्ष स्थिति नहीं है अतएव धृतिमान भक्त के समान ही श्रद्धालु एवं आस्थावान होता है। गीता में भक्त के जो गुण निर्दिष्ट हैं, वही धीर की विशेषता हैं। (गीता, १२/१७-१९)

इसी प्रकार धीर और योगी भी अभिन्न है। धीरता योग की प्रक्रिया है। योग मनुष्यों की वह आध्यात्मिक शक्ति है जहाँ सुख और दु:ख की अत्यन्त उपरति है तथा जो अत्यन्त कल्याणकारी है।[१०] यह योग धृतिगृहीता बुद्धि से साध्य

१०. योगः आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसो हि मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दु:खस्य च सुखस्य च॥

होता है।[११] धृति के बिना योग की साधना असम्भव है, तो बिना योग के धृति की धारणा भी कठिन है।[१२]

धीर पुरुष : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

ऊपर के वर्णन से ऐसा लगता है कि यह सब काल्पनिक आदर्श – यूटोपिया है, पर ऐसा सोचना गलत है। भारतीय मानस यूटोपिया – स्वप्निक भ्रम का सृजन नहीं करता, वह सदैव जीवन की धरा पर बैठकर व्यावहारिक यथार्थ के ताने-बाने बुनता है। आज भी इतिहास के दर्पण में झाँकने से जो बिम्ब समय की धूलि से अस्पृष्ट, स्वच्छ और चमकदार दिखते हैं, उनसे उक्त आशंका निर्मूल हो जाती है। भगवान श्रीराम को इसीलिये मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया कि उन्होंने कभी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया। धैर्यपूर्वक उसका पालन किया। वे समुद्र के समान गम्भीर और हिमालय के समान धैर्यवान थे।[१३] आश्चर्य है, जब राज्याभिषेक की तैयारी चल रही थी, तब उनके मुखमण्डल पर प्रसन्नता की रेखायें नहीं थीं और जब सहसा तत्काल वन जाने का आदेश मिला, तो उनके मुखाम्बुज की श्री विवर्ण नहीं हुई।[१४] चौदह वर्ष तक वन में रहे, कौन-सी विपत्ति उन पर नहीं आई, परन्तु उन्होंने धैर्य नहीं खोया। छायावत् अनुगामिनी सीता का धैर्य तो अनुपम था। लंका में राक्षस-राक्षसियों के आतंक के बीच जीना कितना कठिन था! लोकापवाद के चलते उनके निर्वासन की वेदना कितनी दारुण थी! पर भगवती सीता ने उसे सहते हुये धैर्य का परित्याग नहीं किया। कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'युधिष्ठिर' इसीलिये था कि वे युद्ध की विभीषिकाओं से विचलित नहीं हुये, पर्वत की भाँति स्थिर रहे। उनके सामने दुःशासन ने द्रौपदी को निर्वस्त्र किया और दुष्टमति दुर्योधन ने अपनी नग्न जंघाओं पर बिठाने का संकेत दिया। पर युधिष्ठिर अस्थिर नहीं हुए। चाहते तो तत्काल महाभारत आरम्भ हो जाता। यक्ष की परीक्षा में चारों भाई असफल रहे। धर्मराज युधिष्ठिर ने धैर्य से काम लिया। यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देने के बाद ही जल पिया। यदि धैर्य से काम न लेते, तो उन्हें भी निरुद्देश्य मृत्यु का वरण करना पड़ता। राजा हरिश्चन्द्र ने धैर्य के पोत से विपत्ति-सागर का सन्तरण किया था। भगवान बुद्ध, महावीर स्वामी, प्रभु ईसा धैर्ययोग से ही सिद्ध बने। क्रूर हिंसाचारी अंग्रेजों के विरुद्ध गाँधीजी ने अहिंसा का अस्त्र उठाया, किसके बल पर? कहना न होगा कि यदि धैर्य की शक्ति उनके पास न होती, तो उनकी अहिंसा की विजय असम्भव थी। सत्य, अहिंसा, तप, सरलता, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, दया, मृदुता, लज्जा, क्षमा, अद्रोह तथा निरभिमानिता जैसे दैवी गुण धैर्य के आधार पर ही टिकते हैं। धैर्य नींव है, जिस पर इन गुणों का प्रासाद खड़ा होता है। सृजन चाहे किसी प्रकार का हो, वह धैर्य से ही पूर्णता पाता है। कलाकार की कृति और माता का प्रसव धैर्य का ही तो परिणाम होता है? धैर्य जीवन का आधार-मूल्य है।

गीता के अर्जुन मानव-जाति के प्रतीक हैं। साधारण मनुष्य में धैर्य का उत्तम गुण अपेक्षित मात्रा में नहीं होता। वह तो राजपथ पर चलने का अभ्यासी होता है। मार्ग के काँटों और खन्दकों की पहचान उसे नहीं होती। जब कभी वह टूटे हुए पुल पर पहुँच जाता है, तब उसे नदी के असली रूपवाले मार्ग के अवरोध का पता चलता है। वह घबरा जाता है। धैर्य खो बैठता है। अर्जुन की दशा भी यही है। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जाकर जब वे जीवन की वास्तविकताओं के विकृत मुखों को देखते हैं, तो शोक में डूब जाते हैं। कर्तव्य के प्रतीक – गाण्डीव को छोड़ देते हैं। भगवान के विराट् रूप को देखकर उनकी आत्मा व्यथित हो गई। धैर्य और शान्ति खो बैठे – **धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो** (११/२४)। उन्हें आगे का मार्ग तभी मिलता है, जब वे धैर्य धारण करते हैं। उनके धैर्य की अग्निपरीक्षा थी। आपत्ति में ही धैर्य और मित्रों की पहचान होती है – **आपत काल परखिये चारी। धीरज, धर्म मित्र अरु नारी।।**

युद्ध की आपदा के क्षणों में अर्जुन ने चारों को परख लिया। धैर्य काम आया। हमारा जीवन भी कुरुक्षेत्र है, जो विपत्ति-कौरवों से घिरा है। जिन पर विजय पाकर हम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। शर्त यही है कि धैर्य का युधिष्ठिर हमारे साथ हो। निष्कर्ष यह कि मनुष्य के लिये धैर्य परम आवश्यक है। यह महनीय गुण है। जिसकी प्राप्ति अभ्यास से होती है। व्यक्ति संकटों के क्षणों में भी धैर्य न छोड़े, शायद धैर्य से किसी मार्ग का अनुसन्धान हो जाय। समुद्र में जहाज के टूटने पर डूबते हुये यात्री तैरना ही चाहते हैं –

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले,
धैर्यात्कदाचिद् गतिमाप्नुयात्सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभंगे
सांयात्रिको वांछति तर्तुमेव।।

जो बुद्धिमान अपना कल्याण चाहता है, उसे धैर्य धारण करना चाहिये –

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत् सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमानसः।।
(महा., शान्ति., १६२/१२)

❖ (क्रमशः) ❖

११. गीता, ६/२५
१२. वही, १८/३३ – 'योगेन धारयते'।
१३. सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्द्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान् इव॥ (वाल्मीकि रामायण)
१४. प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्रीः रघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मंजुलमंगलप्रदा॥

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(९७) जैसी संगति लीजिए, वैसा ही फल होय

हकीम लुकमान का जब अन्तिम समय आया, तो उन्होंने अपने बेटों को पास बुलाकर अच्छी-अच्छी नसीहतें देनी शुरू कीं। जब उनका बोलना बन्द हुआ, तो बड़े बेटे ने कहा, "अब्बा जान, हमें बताने के लिए और तो कुछ नहीं बचा !" लुकमान ने कहा, "हाँ बेटे, एक बात बताना भूल ही गया। जाओ, तुम एक कोयला ले आओ।" बेटे द्वारा कोयला लाने पर वे बोले, "सामने एक तश्तरी में चन्दन का चूर्ण रखा हुआ है। उसे भी ले आओ।" चूर्ण लाने पर लुकमान ने कहा, "अब एक हाथ में कोयला रखकर उंगलियों से रगड़ो। फिर दूसरे हाथ में चन्दन का चूरा रखकर उंगलियों से उसे भी रगड़ो। उन्हें सूंघकर बताओ कि कैसा लगता है।" लड़के ने उनके बताये अनुसार किया और बताया, "चन्दन के चूरे से सुगन्ध आ रही है जबकि कोयले से दुर्गन्ध। मगर इससे आप हमें क्या बताना चाहते हैं?" – लड़के ने पूछा।

लुकमान ने जवाब दिया चन्दन और कोयला – क्रमश: सुगन्ध और दुर्गन्ध के प्रतीक हैं। अच्छी संगति चन्दन की तरह सुगन्ध बिखेरती है, जबकि बुरी संगति कोयले के समान दुर्गंध फैलाती है। कपड़े को जिस रंग में रँगा जाता है, कपड़ा उसी रंग का हो जाता है। वैसे ही जो व्यक्ति सज्जन, दुर्जन, तपस्वी या चोर की संगति में रहता है, वह उसी के स्वभाव का हो जाता है, इसलिए मनुष्य को सदाचारी व्यक्तियों की ही संगति करनी चाहिए। मैं चाहता हूँ कि तुम लोग भी बुरे व्यक्तियों की संगत कभी मत करो।"

(९८) अन्तर्यामी जानत है अन्तर्मन का भाव

एक बार साईं बाबा मस्जिद में बैठे थे कि उनके पास बैठे भक्त को छिपकली की 'चिकचिक' की आवाज सुनाई दी। उसने सुना था कि छिपकली का आवाज करना अशुभ संकेत होता है। इसलिये उसने बाबा से प्रश्न किया, "बाबा, सामने की दीवार पर एक छिपकली चिकचिक ध्वनि निकाल रही है। यह अशुभ तो नहीं है?" बाबा ने उत्तर दिया, "छिपकली का चिकचिक करना शुभ-अशुभ किसी भी प्रकार का संकेत नहीं देता। सच्चाई तो यह है कि इस छिपकली की बहन जल्द ही औरंगाबाद से आने वाली है। चिकचिक आवाज निकालकर वह आनन्द व्यक्त कर रही है।" उनके ये शब्द पूरे भी नहीं हुये थे कि घोड़े पर बैठकर एक भक्त औरंगाबाद से शिरडी आया। उसने बाबा को प्रणाम किया। थोड़ी देर बैठने के बाद बोला, "घोड़ा भूखा है, इसलिये उसके लिये बाजार से चने खरीदकर लाता हूँ। यह कहकर उसने साथ लाये हुये एक खाली थैले को साफ करने के लिये फटकारना शुरू किया कि उसमें से एक छिपकली नीचे गिरी और सरसर करती हुई देखते-ही-देखते दीवार पर चढ़ गई। वहाँ पहले से मौजद छिपकली से वह गले मिली और दोनों चिक -चिक आवाज निकालकर हर्ष व्यक्त करने लगीं।

भक्त ने देखा, तो उसे बाबा के शब्द स्मरण हो आये। वह सोचने लगा कि औरंगाबाद की छिपकली का यहाँ की छिपकली से मिलना पूर्व नियोजित ही कहा जा सकता है। पर बाबा का उसके आने से पूर्व सूचना देना यही संकेत देता है कि सन्त पुरुष भी ईश्वर समान अंतर्यामी होते हैं और वे मनुष्य ही नहीं, जन्तुओं के भी अन्तर्मन तक जा पहुँचते हैं।

(९९) देने को अन्नदान, लेने को हरि नाम

सन्त तुकाराम की कीर्ति सुनकर एक फकीर यह देखने उनके घर पर पहुँचा कि कहीं वे ढोंगी तो नहीं हैं ! उस समय तुकाराम मन्दिर गये हुये थे। पत्नी जिजाई घर की पत्थर की चक्की पर जवार का आटा पीस रही थी। पाँच साल की बेटी भागीरथी भी माँ के हाथ-को-हाथ लगाकर माँ के साथ भजन गुनगुना रही थी। फकीर की आवाज सुनकर वे दोनों दरवाजे पर आईं। फकीर को हट्टा-कट्टा देखकर जिजाई उस पर बरस पड़ी, "हट्टे-कट्टे होकर भी कुछ काम नहीं करते। मुफ्तखोरों को यहाँ कुछ नहीं मिलेगा।" यह कहकर वह द्वार बन्द करने लगी, पर तब तक भागीरथी चुपचाप एक मुट्ठी आटा ले आई थी। माँ के मुड़ते ही वह दरवाजा खोलने लगी। जिजाई ने मुड़कर देखा, तो वापस आकर उसका कान पकड़कर चक्की के पास लाकर मुट्ठी का आटा नीचे डलवाया। मगर भागीरथी कम न थी। वह फिर दरवाजे पर गई और उसने फकीर से झोला सामने करने को कहा और मुट्ठी में लगा आटा उसमें डालने लगी। आँखें बन्दकर मुँह से उसका भजन गाना चालू ही था। फकीर यह देखकर हैरान रह गया कि आटे से उसका झोला भर गया और आटा नीचे गिरने लगा। वह बोला, "बस, मुझे और नहीं चाहिये। मुझे अब कुछ काम-धन्धा करना चाहिये।" उसका सारा अहंकार चूर-चूर हो गया था। उसे पछतावा हुआ कि वह व्यर्थ ही एक महात्मा पर शक कर रहा था। वह भागीरथी के चरणों पर गिर पड़ा और मन-ही-मन उसने तुकाराम से क्षमा माँगी।

पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१)
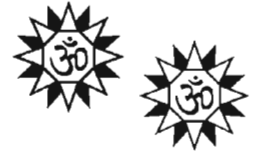
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों का सुसम्पादित रूप में एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

भूमिका

(१)

सैकड़ों वर्षों तक आत्मोन्नति के विषय में अन्वेषण करके भारतीय मनीषीगण इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचे थे – जिसे जान लेने पर, जानने के लिये कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् जिसे ज्ञात कर लेने पर कुछ भी अज्ञात नहीं रहता, सब कुछ ज्ञात हो जाता है, उसी वस्तु को उन लोगों ने ज्ञात कर लिया था – **यद् ज्ञात्वा सर्वं विज्ञातम् भवति इति**।

उस ज्ञान को सभी मनुष्यों के लिये उपयोगी बनाने के लिये, उसे व्यावहारिक बनाने के लिये, उन लोगों ने जो प्रबल उद्यम, पुरुषार्थ किया था, उसे ही 'वैदिक संस्कृति' या 'हिन्दू संस्कृति' कहते हैं। साधारणत: इसे 'धर्म' कहते हैं। आजकल जैसे भौतिक वैज्ञानिक किसी तत्त्व का आविष्कार करने पर उसे सभी व्यक्तियों के लिये उपयोगी बनाने का प्रयास करते हैं, यह कार्य भी ठीक वैसे ही है।

मानव-मन को अन्तर्मुखी करने के लिये सबसे पहले शरीर और मन के विकास का प्रयास करना अर्थात् शारीरिक और मानसिक विकास का अभ्यास करना है। इस विकास के लिये आयुर्वेद आदि का आविष्कार हुआ। उसके बाद मानसिक विकास के लिये उपासना प्रणाली विकसित हुई। यह प्रणाली विकसित होते-होते प्रतीक उपासना में परिवर्तित हो गयी। उपासना करने के लिये जिस कल्पना की सहायता ली जाती है, वह बहुत विकसित नहीं होने से, संसार-कारण ब्रह्म का तत्त्व समझना व्यक्ति के लिये असम्भव है। उपासना करते-करते व्यक्ति के मन में जब स्वर्ग, वैकुण्ठ, कैलास आदि आनन्दमय धामों की कल्पना प्रबल होकर, इन स्थानों में निवास करने की इच्छा जाग्रत हो उठती है, तब व्यक्ति के मन में ध्यानप्रवणता आती है।

माया से आवृत (मायाच्छन्न) चैतन्य-शक्ति तृण, लता आदि प्राणियों के द्वारा व्यक्तिगत जीवन-लीला प्रारम्भ करते हैं। उसके बाद लाखों वर्षों तक भोग करने के प्रयास में भटकते हुये वे मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं। उसके बाद विकसित पंचेन्द्रियों की सहायता से पंचभूतों, पंचतत्त्वों से निर्मित इस बाह्य संसार का भोग करते-करते जब अत्यन्त अतृप्ति का बोध होता है, तब नित्यकृष्ण, नित्य-वृन्दावन आदि की बातें सुनने पर अभ्युदयार्थी (भौतिक-समृद्धि के इच्छुक व्यक्ति) का मन इस ओर (परमात्मा की ओर) दौड़ता है, अग्रसर होता है। इसलिये जिस मानव-समाज में अभ्युदय-प्राप्ति (भौतिक विकास) की सुव्यवस्था रहती है और उसके साथ ही अन्तर्जगत में विकास का भी प्रचार-प्रसार होता है – उसी समाज में अन्तर्जगत में जाने के इच्छुक लोग दृष्टिगोचर होते हैं। वर्तमान में पाश्चात्य देशों में बाह्य संसार में समृद्धि प्राप्ति के लिये सब प्रकार की ही व्यवस्था है और भारतवर्ष में अन्तर्जगत में 'रसास्वादन' की जानकारी मिलती है। किन्तु दोनों जगह (प्राच्य और पाश्चात्य में) ही अन्तर्जगत और बाह्य जगत, अभ्युदय और नि:श्रेयस्, भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक विकास, दोनों का विकास नहीं होने से, लोगों का केवल एकांगी दृष्टिकोण होने के कारण, अन्तर्जगत में प्रवेश की इच्छा किसी में भी नहीं देखी जाती। पाश्चात्य देशवासी अध्यात्म विद्या का प्रयोग संसार के विकास के कार्य में करते हैं और भारत में अन्तर्जगत की खोज में लोक और परलोक दोनों से ही साधक पतित हो जाते हैं।

प्राकृतिक नियमों का पालन नहीं करने से किसी भी व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। समाज में उस नियम के पालन करने की सुव्यवस्था नहीं रहने से मनुष्य की पशुता को दूर करना असम्भव है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द जी ने योग-साधना के केन्द्र के रूप में, बेलूड़ मठ की स्थापना करके उसे एक टेक्निकल इन्सटिट्यूसन (तकनीकी संस्थान) में परिणत करने की आज्ञा दी थी।

(२)

अभ्युदय, समृद्धि की चरम सीमा में पहुँचने पर जब मानव-मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है – '**ततः किम्**' – उसके बाद क्या? तब पुरोहितगण यज्ञादि कर्म अर्थात् देव-उपासना करने की शिक्षा देते हैं। उपासना के फलस्वरूप सत्त्वगुण का विकास होने पर भक्तों में प्रेम-भक्ति का संचार होता है। भगवान के ऊपर आकर्षण का अनुभव करते-करते जब सचमुच उन्हें पाने की इच्छा जाग्रत होती है, तभी मानव योगाभ्यास के योग्य, उपयोगी होती है। जिसका संसार-दर्शन समाप्त हो गया है, संसार के अतीत नित्य वृन्दावन से सम्बन्धित संशय दूर हो चुका है और नित्य निरंजन (परमात्मा)

की प्राप्ति के बिना अब और अधिक जीवन धारण नहीं चल सकता, तब उस व्यक्ति में योगाभ्यास की योग्यता आती है, तभी व्यक्ति योगाभ्यास करने का अधिकारी बनता है।

'**ईहामुत्रफलभोगविरागः** ।' (वेदान्तसार,१७)। सत्-चित-आनन्दस्वरूप अपने स्वरूप-प्राप्ति की प्रबल इच्छा नहीं रहने से, यदि कोई योग के मार्ग पर चलता है, तो मार्ग के दोनों ओर विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्य रहते हैं, उन ऐश्वर्यों से आकर्षित होकर योगी योग-मार्ग को छोड़कर भोग-मार्ग पर चलते रहते हैं। इसीलिये योग्य अधिकारी के अभाव में महर्षि पतंजलि आदि योगियों के द्वारा प्रवर्तित योगी-सम्प्रदाय धीरे-धीरे नष्ट हो गया है। इसलिये स्वामी विवेकानन्दजी मानव की आत्मा को सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी करके जीवात्मा को परमात्मा के साथ संयुक्त करने के लिये एक नया मार्ग-दर्शन कर गये हैं। इस मार्ग का अवलम्बन करने पर चारों योगों में जो विघ्न हैं, वे साधक का अनिष्ट नहीं कर सकते। इसकी सम्पूर्णतः अच्छी तरह से दृढ़ धारणा कर राजयोग की साधना में अग्रसर होना होगा।

(२) (क)

मानव-जीवन की उन्नति की अन्तिम सीमा में उसके चित्त में विवेक-बुद्धि का विकास होता है। तब उसे अन्तर्जगत के तत्त्वों को जानने की जिज्ञासा होती है। सौभाग्यवशात् कोई-कोई वैदिक धर्म के आत्मविज्ञान की बात जान सकते हैं। उससे उनकी बुद्धि में क्रमशः सृष्टि के रहस्य की धारणा होती है। किन्तु ये सारी बातें जानने और समझने पर भी, इस संसार से अपने को हटाकर पूर्णत्व-प्राप्ति करना सम्भव नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि जो लोग ब्रह्मविज्ञान के सम्बन्ध में सारी बातें जानते हैं, वे लोग शरीर और मन के बन्धन से मुक्त नहीं हैं। जो लोग निदिध्यासन करके "मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ" इसे अपने अन्तकरण में बोध करते हैं, वे लोग ही जन्म-मरण के हाथ से मुक्ति प्राप्त करते हैं। निदिध्यासन ही मुक्ति-प्राप्ति का प्रत्यक्ष उपाय है, ज्ञान-विचार नहीं। इसीलिये योग-मार्ग के सम्बन्ध में सम्पूर्ण रूप से सचेत नहीं होने पर ज्ञान व्यर्थ हो जाता है।

हम लोगों ने देखा है कि संन्यासी-सम्प्रदाय में बुद्धिमान महान् तत्त्वज्ञानी लोग भी, व्यवहार में विज्ञानियों के समान चरित्र-शक्ति, प्रायः ही नहीं दिखा पाते हैं। बहुत से लोगों का तो विचार करते-करते मस्तिष्क ही खराब हो जाता है। किन्तु जो लोग निदिध्यासन अर्थात् योगाभ्यास करके चित्त को ब्रह्माभिमुखी करते हैं, ब्रह्म में लगाते हैं, उन लोगों के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं करने पर भी, उन लोगों के जीवन में अद्भुत माधुर्य का विकास होता है।

(२) (ख)

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि अनेकों जन्मों तक पुण्य-कार्य करने से मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है। उसके परिणाम स्वरूप अन्तिम जन्म में साधक के मन में भगवत्-प्राप्ति की प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न होती है – '**येषामन्तगतं पापम्**' (गीता - ७-२८)।

भगवान के ऊपर मन का आकर्षण रहने पर भी, भगवान का साक्षात्कार नहीं होने तक, देह-मन की प्रवृत्तियों का निरोध नहीं किया जा सकता। भगवान का साक्षात्कार करने के लिये भगवान के सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य को लेकर मतवाला हो जाने से मन 'प्रत्यक् चैतन्याभिमुखी' नहीं भी हो सकता है। साधारणतः देखा जाता है कि भक्तगण भगवान की सेवा-पूजा, महिमा-कीर्तन और उनकी वाणी आदि लेकर मतवाले रहते हैं, जिससे मन भीतर की ओर बहुत दूर तक अग्रसर नहीं होता है। कभी-कभी अभिमान के कारण अभक्त की उपेक्षा करना, अवज्ञा करना, दूसरे मतावलम्बियों से घृणा करना आदि दुष्कार्यों से भक्त का मन अत्यन्त निम्नगामी, पतित हो जाता है। इस प्रकार की दूसरी अनेकों प्रकार की असंख्य बाधायें भक्त को भगवान की प्राप्ति के मार्ग में बाधा देती हैं। इसीलिये भगवान के चिन्तन में तन्मय, विभोर नहीं होने से भक्ति-साधना की सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः भक्ति-साधना के मार्ग में भी निदिध्यासन ही अन्तिम सोपान है। 'ईश्वर प्रणिधान' के बिना भक्तिमार्ग में मुक्ति सम्भव नहीं है।

(३)

मनुष्य के नित्य-नैमित्तिक कर्म को भी योग के सहायक के रूप में परिणत किया जा सकता है। वैसा करने के लिये कर्म के झमेले-झंझट में भी मन को कर्ममुक्ति की ओर खींचकर रखना होगा। यदि हम तीक्ष्ण बुद्धि की शक्ति से यह समझ सकें कि 'मुक्ति हमारे जीवन का एकमात्र आदर्श है,' और सर्वदा इस मुक्ति रूपी आदर्श की ओर ही मन को खींचकर रख सकें, तो कर्म के बीच में भी मन में थोड़ा निदिध्यासन का भाव रह सकता है। 'थोड़ा' बोलने का कारण यह है कि कर्म को सुसम्पन्न करने के लिये मन का बहुत अंश कर्म में लगाना ही पड़ेगा, उस समय मन का एक अंश मुक्ति का चिन्तन करता रहेगा।

कर्मयोग का एक सुप्रसिद्ध उदाहरण है – 'बड़े घर की दासी'। एक धनी के घर की दासी है। वह दासी गरीबी के कारण अपना घर-गृहस्थी चलाने में असमर्थ रहती है, इसीलिये वह बाध्य होकर एक धनी व्यक्ति के घर काम करने आती है। वह निश्चित रूप से जानती है कि उसका अपना एक घर है और कुछ उसके स्वजन हैं, जिनके लिये वह यहाँ काम करने आती है और बाबू को, मालिक को थोड़ी-सी भी असुविधा होने से वह उसे निकाल देगा, भगा देगा। जबकि निश्चित रूप से हम लोग भी सचमुच में अपना घर परित्यागकर, शरीर और मन का दासत्व बाध्य होकर कर रहे हैं। किन्तु

हमलोग इसे नहीं जानते, जानने पर भी समझते नहीं है, समझने पर भी अपने घर पुन: वापस जाने को सोच भी नहीं सकते हैं।

इसलिये धनी व्यक्ति के घर की दासी बनकर जाना हमलोगों के लिये छल मात्र है। मैं ज्ञान-विचार करके जाना कि 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ', भगवान के सौन्दर्य-माधुर्य पर मुग्ध हुआ, उसके बावजूद भी दीर्घकाल तक निरन्तर परम श्रद्धा के साथ निदिध्यासन नहीं करने पर इस मार्ग पर अधिक दूर तक अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। कर्म में मन को बिखरा कर मुक्ति-मार्ग पर अग्रसर होना, कितना कठिन कार्य है, उसे और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है – जिन क्षत्रिय राजाओं का वज्रवत् सुदृढ़ शरीर और मन था, वे ही लोग इस कर्मयोग की साधना को करते थे। इसलिये कर्मयोग अत्यन्त कठिन साधना है। "**इमं राजर्षयो विदुः** ।" (४/२)।

हाँ, लेकिन अनन्त जीवन के कर्म के अभ्यास को सहसा परित्याग कर देना बिल्कुल असम्भव है। अत: योग-साधना के प्रारम्भ में निष्काम भाव का अभ्यास करने के लिये कर्म करना अनिवार्य है। इसीलिये हम लोगों जैसे अधिकारियों के लिये स्वामीजी ने इतने कर्म करने की प्रेरणा दी है। किन्तु निष्काम कर्म करते समय कर्म के उद्देश्य मुक्ति के निदिध्यासन के सम्बन्ध में सदा सचेत रहना होगा। कर्म करते-करते मन का खींचाव इधर तो रहेगा ही तथा समय मिलते ही निदिध्यासन में मन को उठाकर रखना होगा, अर्थात् निदिध्यासन करना होगा। जैसे छुट्टी मिलते ही दासी अपने घर चली जाती है।

इस प्रकार कर्मयोग का भी अन्तिम सोपान ध्यानयोग है।

(४)

असाधारण परम बुद्धिमान, भावुक और परोपकारी व्यक्ति ज्ञान या भक्ति या कर्म के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु ऐसे अधिकारी संसार में बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। हम लोग जैसे सामान्य लोगों के लिये तो कई बार कोई विशेष परिणाम नहीं मिलता। पहलवान व्यायाम करके बहुत आनन्द पाते हैं, ठीक वैसे ही बुद्धिमान लोग सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयों के बारे में विचार करके बौद्धिक-चर्चा में आनन्द पाते हैं। भारतवर्ष और दूसरे अन्य सभी देशों में ही कितने दार्शनिक विद्वान हैं, जिनकी चिन्तन-पद्धति बहुत चित्ताकर्षक है। हमलोग उपन्यास पढ़कर जो आनन्द पाते हैं, मानसिक व्यायाम करने वाले, इन्हीं सब ग्रन्थों के स्वाध्याय में उतना ही आनन्द पाते हैं। हाँ, किन्तु ठीक वेदान्त के अनुसार चिन्तन करने से मन बहुत ऊँचा उठ जाता है, किन्तु मन को स्व-स्वरूप में तन्मय, निमग्न नहीं कर सकने पर मुक्ति-प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है।

भक्ति-शास्त्र में जिस प्रेम की व्याख्या हुई है, वह तो उपन्यास में लिखित मानव के प्रेम-मिलन-विरह के आकर्षण का ही एक उच्चतर रूप है। एक सुन्दर मूर्ति के प्रति प्रेम करने, हँसने, रोने, नाचने, गाने में बहुत सुख मिलता है। अनेकों बार भगवान के सौन्दर्य माधुर्य पर मुग्ध होकर कीर्तन करते-करते बहुत से भक्तों को समाधि (भाव) होते हुये देखा जाता है। यह भी एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है।

निर्दिष्ट-सिद्धान्त के अनुसार साधना की सहायता से देहात्म-बुद्धि दूर नहीं करने से मुक्ति असम्भव है। युगावतार पूर्ण ब्रह्म भगवान श्रीरामकृष्णदेव के चरणाश्रित भवनाथ, छोटे नरेन्द्र आदि अनेकों लोगों को भाव होता था, किन्तु बाद में नियमानुसार सबको संसार करना पड़ा था, सभी गृहस्थ जीवन-यापन किये।

मुख्य बात है, नियमानुसार योगाभ्यास करके, एक-एक सोपान मन को ऊपर उठाकर चिदाकाश में नहीं जाने से विषय-वासना दूर नहीं होती। गीता (३/४२) के "**इन्द्रियाणि पराण्याहुः** ...' इन दो श्लोकों में यह बात स्पष्ट रूप से बतायी गयी है। उसका सार तत्त्व यह है कि अपनी चेतना-शक्ति को देह-मन से ऊपर उठाकर स्व-स्वरूप का बोध नहीं होने तक, शान्ति की प्राप्ति असम्भव है। ज्ञान-विचार से मुक्ति का स्वरूप समझ में आता है। भक्ति से मुक्ति-स्वरूप ईश्वर के चिन्तन में रुचि होती है। निष्काम कर्म बुद्धि को शुद्ध कर देता है; किन्तु ध्यानयोग ही अन्त में जीवात्मा को परमात्मा के साथ संयुक्त कर सकता है। ध्यानयोग की सहायता नहीं लेने पर पूर्वोक्त तीनों योगों की फल-प्राप्ति बहुत दूर है। सभी योगों का एक ही स्वर है – 'जीव को ईश्वर के साथ जोड़ देना'। इसलिये मुमुक्षु को पहले से ही ध्यान का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है।

(५)

हिन्दुओं का नियम था कि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन त्रिसन्ध्या ज्योतिर्मय सूर्य का दर्शन करेगा। इसे ७-८ वर्ष की अवस्था में उसे सिखाया जाता था। अभी भी निश्चित रूप से ब्राह्मणों में कहीं कोई प्रतिदिन गायत्री मन्त्र का जप करते हैं। उन्हीं जापकों में से कहीं कोई एक-आध ध्यान भी करते हैं। हिन्दू लोग ध्यान को ही अभ्युदय (भौतिक समृद्धि) और नि:श्रेयस् (आध्यात्मिक) की प्राप्ति के लिये मुख्य उपाय जानते थे। मन की एकाग्रता का अभ्यास नहीं रहने से संसार का सामान्य कार्य भी सुसम्पन्न नहीं होता है। बड़े-बड़े सभी कार्यों में विशेष मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता होती है।

ध्यान-योग का अभ्यास बन्द होने के बाद नाम-जप का प्रवर्तन हुआ था। वह भी ध्यान का ही एक निम्न स्तर है। जप से भी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। "**स्वाध्यायदिष्ट देवता सम्प्रयोगः** ।" (योगसूत्र - २/४४)

कुछ दिन पहले आधुनिक तथाकथित शिक्षित लोग किसी कार्य को करने के पहले कुछ देर मौन रहने का नियम चलाने का प्रयास किये थे। हो सकता है कि उन्हें अनजाने में उस योग का ही थोड़ा आभास मिला हो। योगाभ्यास के विलुप्त हो जाने से हिन्दुओं की सभी क्षेत्रों में अवनति हुई है। जो व्यक्ति दिन में कम-से-कम तीन बार मन को पुन: वापस खींचकर जगत से ऊपर उठाकर रख सकता है, उनके जीवन में आत्मा की अनन्त महिमा का थोड़ा-थोड़ा प्रकाशित होना स्वाभाविक ही है। हमारे पीछे जो अनन्त शक्ति है, उसके विषय में थोड़ा-सा ज्ञान-विश्वास नहीं होने पर मानव-जीवन के ऊँचा उठने की कोई सम्भावना नहीं है।

संसार के सभी रहस्य और ब्रह्म के सभी तत्त्वों को जानने पर भी व्यक्ति देह-मन रूपी खोभार (सूअर के घर) से मुक्ति नहीं पायेगा। इसीलिये तो हिन्दू लोग शैशवावस्था से ही ऊँचे उठने के लिये एकमात्र मार्ग – ध्यान या निदिध्यासन की शिक्षा प्रदान करते थे।

(६)

निष्काम भाव से कर्म करते-करते वैराग्य हुआ, ज्ञान का विचार करते-करते सब प्रकार से उपाधि रहित अहं ही सत्य है – ज्ञेय और ज्ञातृत्वरूप को मिथ्या समझा, ब्रह्म के अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य के आकर्षण से मुग्ध हुआ, किन्तु देह और मन की दासता को नष्ट नहीं कर सकने के कारण पूर्ण शान्ति नहीं पा सका। तब महर्षि पतंजलि जी आकर आश्चर्यजनक रूप से एक सरल सीधा रास्ता दिखा देते हैं, जिस रास्ते से चलने से पूर्ण शान्ति की प्राप्ति निश्चित है। वे कहते हैं, शरीर और मन को यम-नियम के द्वारा प्रक्षालन कर निर्मल स्वच्छ करो, उसके बाद बाहर के सभी कर्मों को बन्द करके आसन में बैठ जाओ, बैठकर प्राणशक्ति की सहायता से मन को निष्क्रिय करो। उसके बाद बुद्धि में जो सत्त्वगुण का प्रकाश है, उसका बोधकर, उसका अनुभव कर बैठे रहो। इस प्रकार रहने से सृष्टि का सम्पूर्ण रहस्य तुम्हारे समक्ष प्रकाशित हो जायेगा। जब तुम सृष्टि (संसार) के सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य के सम्बन्ध में पूर्णत: उदासीन हो जाओगे, तब तुम संसारातीत, सृष्टि के परे गुणातीत 'चित्' – चैतन्य वस्तु का अनुभव करके पूर्णत्व की प्राप्ति कर सकोगे।

यही अध्यात्म विद्या की प्राप्ति का अन्तिम सोपान है। दृढ़ संकल्प लेकर बैठ जाने पर शान्ति की प्राप्ति सुनिश्चित है। बुद्धदेव का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(७) उपसंहार

ध्यानयोग के विघ्न के सम्बन्ध में बुद्ध, इसा मसीह आदि महापुरुषों के जीवन में बहुत-सी घटनाओं का उल्लेख है। जैसे संसार में देखा जाता है – जो जितना ही शिक्षित होता है, अच्छे-अच्छे भोगों के सम्बन्ध में वह उतना ही सचेत होता है। एक परिश्रमी व्यक्ति अत्यन्त तृप्ति, सन्तुष्टि के साथ दाल-भात खाता है, लेकिन शिक्षित लोगों को बहुत से व्यंजन, बहुत सी सामग्री नहीं होने पर सन्तुष्टि नहीं होती। अध्यात्म-साधना में साधक की रुचि बढ़ती रहती है और रुचि के अनुसार अनुभव भी आकर उपस्थित होता है। उन सब साधकों में जिन लोगों ने निष्काम कर्म करके देखा है कि कार्य कभी समाप्त नहीं होता है, उपासना करके देखा है कि भगवान के ऊपर प्रगाढ़ प्रेम नहीं होने से मन को संसार से उठाकर उच्च मार्ग पर चलाने के लिये सर्वदा इच्छा प्रबल नहीं रहती है, ज्ञान-विचार करके देखा है कि इस ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण वस्तु-तत्त्व को जानकर भी हृदय में शान्ति नहीं आती। ध्यानयोग का अभ्यास करके देखा है कि आन्तरिकता नहीं होने से एकाग्रता नहीं आती, वे लोग साधना-पथ के किसी भी विघ्न से विचलित नहीं होते हैं और परम आनन्द के साथ उच्च से उच्चतर सोपान पर आरोहण करते-करते पूर्ण शान्ति को प्राप्त करते हैं।

महर्षि पतंजलि के द्वारा प्रणीत 'योगसूत्र' में हम लोग अन्तराय (विघ्न) की बात भी पायेंगे और उसके अतिक्रमण करने का मार्ग-दर्शन भी पायेंगे। योगशास्त्र की मूल बातों को समझने में बहुत कठिनाई नहीं होती है। कुछ दिन थोड़ा-सा अभ्यास करने से ही बातें स्पष्ट हो जाती हैं। किन्तु सूत्र में जिन सूक्ष्म विषयों का पर्यवेक्षण और विचार है, बहुत दिनों तक चिन्तन नहीं करने से वह समझ में नहीं आता। हम लोगों जैसे साधारण व्यक्ति के लिये ये सब सूक्ष्म विवेचन मन को आकर्षित नहीं करते हैं। विशेषत: प्राचीन प्रणाली के अनुसार रचित इन सूत्रों को समझने में प्रारम्भ में शिक्षार्थी, जिज्ञासू के लिये कठिन प्रतीत होता है।

सूत्रों के अनेकों भाष्य हैं, किन्तु उसका मर्म (रहस्य) समझना हमलोगों के लिये कठिन होता है। स्वामी विवेकानन्दजी की बहुत प्रांजल, सुबोध सहज बोधगम्य व्याख्या हमलोगों के लिये अत्यन्त विस्तृत और हृदयग्राही प्रतीत होती है।

प्रारम्भिक शिक्षार्थी, जिज्ञासू के लिये सभी विषयों का सार-मर्म (मुख्य बातें) पहले जान लेने से थोड़ी सुविधा होती है। जैसे प्रारम्भिक शिक्षार्थी के लिये काव्य और साहित्य विषयक संकलन रुचि उत्पन्न करने में सहायता करता है, वैसे ही यह भाष्य और रहस्यबोधक व्याख्यान की रचना भी उसी उद्देश्य से की गयी है।

इस भाष्य में जटिल, कठिन सूत्रों के केवल सार तत्त्व का ही उल्लेख किया गया है। कहीं-कहीं विभिन्न कारणों से थोड़ी नई प्रकार की व्याख्या भी की गई है। इस सम्पूर्ण लेख में सर्वत्र केवल प्रारम्भिक शिक्षार्थी, जिज्ञासू का मन जिससे योग के मूल विषय की ओर आकर्षित हो वही प्रयास किया गया है।

❖ (क्रमश:) ❖

गणित-शास्त्र को भारत का अवदान

आज हम अपनी सारी गणनाएँ केवल अंक-पद्धति से ही करते हैं। सारे संसार में अब इसी अंक-पद्धति का उपयोग होता है। यह वैज्ञानिक अंक-पद्धति ही संसार को भारत की सबसे बड़ी देन है। वैदिक काल में अंक-संकेतों का प्रचलन अवश्य रहा होगा, लेकिन वे अंक-संकेत कैसे थे, इसके बारे में हम नहीं जानते। सम्भवत: वैदिक काल में शून्य पर आधारित इस अंक-पद्धति की खोज नहीं हो सकी थी।

हमारे देश में उपलब्ध सबसे पुरानी लिपि है – सिन्धु सभ्यता की लिपि, पर वह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। फिर हमें अशोक के शिला-लेख मिलते हैं, जो ब्राह्मी लिपि में खुदे हुए हैं। इन्हीं लेखों में हमें पहली बार अंक-संकेत देखने को मिलते हैं। पर अशोक के समय (३०० ई.पू.) की अंक-पद्धति आज की अंक-पद्धति से भिन्न थी। अशोक की अंक-पद्धति में शून्य नहीं था। उस समय तक केवल दस अंकों के द्वारा सारी संख्याएँ लिखने की खोज नहीं हुई थी।

नई अंक-पद्धति की खोज ईसा की पहली-दूसरी सदी में हुई, छठी शताब्दी से इनका अभिलेखों में इसका उपयोग भी होने लगा। इसके बाद ८७० ई. में भारतीय (ग्वालियर) अंक-पद्धति का इस्तेमाल होने लगा, जिसमें शून्य घिन्डी के रूप में था। तदुपरान्त ११०० ई. में देवनागरी अंक-पद्धति का उपयोग प्रचलित हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी में जब यूरोप में पुस्तकें छपने लगीं और अंकों के टाइप बने, तो इन अंक-संकेतों को वर्तमान स्थायी रूप मिला। इस प्रकार १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ० अंक-सकेत मूलत: भारतीय अंक-संकेत हैं। इसीलिए आज हम इन्हें भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय अंक कहते हैं।

बोधायन सूत्र – वैदिक शब्दावली में रेखागणित के लिए 'शुल्व' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन ज्ञान-सम्बन्धी उक्तियों को 'शुल्व-सूत्र' कहा गया। यज्ञों के लिये वेदी-निर्माण हेतु यह ज्ञान अपेक्षित था, इसीलिए कई ऋषियों के 'शुल्व-सूत्र' उपलब्ध हैं। यजुर्वेद में आपस्तम्ब, कात्यायन आदि के सूत्र हैं, किन्तु सबसे प्रसिद्ध हैं – बोधायन के 'शुल्व-सूत्र'। बोधायन को आठवीं सदी ई.पू. का बतलाया जाता है। बोधायन ने अपने सूत्रों में रेखागणित के सरल नियमों को प्रस्तुत किया; यथा – सरल रेखा को बराबर भागों में बाँटा जा सकता है, वृत्त व्यास को दो बराबर भागों में विभाजित करता है तथा समान्तर चतुर्भुज के कर्ण एक-दूसरे को सम-द्विभाजित करते हैं। गणित में जिस ज्यामितीय सिद्धान्त को सारे विश्व में पाइथागोरस-प्रमेय के नाम से प्रसिद्धि मिली है, जिसे बोधायन अनेक शताब्दियों पूर्व ही प्रतिपादित कर चुके थे। उनके लगभग ३०० वर्ष बाद यूनानी गणितज्ञ पाइथागोरस ने उन्हीं के सिद्धान्त को अपने नाम पर प्रचारित किया। पाइथागोरस के अनुसार समकोण त्रिभुज की दो भुजाओं के वर्गों का योग उसके कर्ण के वर्ग के बराबर होता है। माना कि समकोण त्रिभुज की 'अ' तथा 'ब' दो भुजाएँ हैं तथा 'स' कर्ण है, तो $स^२ = अ^२ + ब^२$।

त्रिभुज का क्षेत्रफल – महान् भारतीय वैज्ञानिक आर्यभट का जन्म ४७६ ई. में हुआ। उन्होंने पाइ का चार दशमलव स्थानों तक शुद्ध मान निकाया। उन्होंने त्रिभुज का क्षेत्रफल निकालने के लिए निम्न श्लोक दिया –

त्रिभुज्य फलशरीरं समदलकोटी भुजार्धसंवर्ग: ।

– अर्थात् किसी त्रिभुज का क्षेत्रफल, १/२ आधार × ऊँचाई के बराबर होता है।

शून्य का गणित – शून्य का आविष्कार किस व्यक्ति ने किया, यह कोई नहीं जानता। निश्चित रूप से यह काम किसी प्रतिभावान व्यक्ति का था, क्योंकि किसी संख्या द्वारा 'कुछ नहीं' दर्शाना कल्पना की उच्चतम उड़ान थी। सम्भवत: वह कोई गणितज्ञ नहीं, बल्कि सैनिकों, प्राणियों या सामानों का अभिलेख रखनेवाला कोई अंकवेक्षक रहा होगा, जिसने यह आविष्कार किया। भारत में संस्कृत में यह 'शून्य' के रूप में जाना गया और एक बिन्दु को मध्यस्थ करते हुए एक वृत्त के रूप में प्रदर्शित किया गया। इसका उपयोग किसी भी अन्य अंक की तरह किया जाता था। कुछ अन्य प्राचीन सभ्यताओं – जैसे इन्का या माया के पास भी शून्य (जीरो) था, मगर इसका उपयोग अंक की तरह कभी नहीं हुआ था। भारत की स्थानीय मान-संकेत प्रणाली का उद्‌गम परिशुद्ध और अति वैज्ञानिक संस्कृत भाषा से हुआ। प्राचीन भारतीय बड़ी संख्याओं के चिन्तन और उनके नामकरण के बड़े शौकीन थे। यथा – १००० 'सहस्र' था, १०,००० 'अयुत', १००,००० 'लक्ष' और १०,०००,००० 'कोटि' था।

भारत में गणित ६वीं से १२वीं शताब्दी तक वैभव के चरम शिखर तक पहुँच गया। मुलतान में जन्मे ब्रह्मगुप्त (५९८-६६० ई.) ही वे व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने ग्रन्थ "ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त" (६२८ ई.) में शून्य की व्याख्या इस प्रकार की – "ऋणात्मक संख्या में से शून्य घटाने पर शेष ऋणात्मक मिलता है। धनात्मक संख्या में से शून्य घटाने पर शेष धनात्मक मिलता है। शून्य को शून्य से गुणा करने पर या शून्य को शून्य से भाग देने पर शून्य ही प्राप्त होता

है। शून्य में से शून्य को घटने पर शून्य मिलता है।''

तत्पश्चात् भास्कर-द्वितीय ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लीलावती' में लिखा है – ''शून्य का वर्ग आदि करने पर भी फल शून्य प्राप्त होता है।'' किसी संख्या को शून्य से भाग देने पर जो लब्धि मिलती है, उसे भास्कर द्वितीय ने 'खहर' (अनन्त) कहा। ''जिस प्रकार अनन्त और अच्युत ईश्वर में प्रलय के समय असंख्य जीवों का प्रवेश होने से या सृष्टि के समय उनके निकल आने से उनमें कोई विकार नहीं आता, उसी प्रकार शून्य हर वाली (ख-हर) राशि में बहुत बड़ी संख्या जोड़ने अथवा घटाने से कोई परिवर्तन नहीं आता।''

इसे हम इस प्रकार लिख सकते हैं :

अ/० = ∞ तथा ∞+क = ∞-क

भास्कर-द्वितीय ने ब्रह्मगुप्त के इस कथन को कि शून्य से शून्य को भाग देने पर फल शून्य होता है (०/० = ०) शुद्ध करने का प्रयास किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भास्कर का यह कथन कि अ/०×० सही नहीं है। किन्तु यह स्मरणीय है कि यूरोप के गणितज्ञ उन्नीसवीं शती के मध्य तक ऐसी त्रुटियाँ करते रहे थे।

त्रिकोणमिति – आधुनिक त्रिकोणमिति जिस बुनियादी ढाँचे पर खड़ी है, उसकी खोज आज से करीब १५०० साल पहले महान् भारतीय गणितज्ञ आर्यभट ने की थी। ज्योतिष की सहचरी के रूप में त्रिकोणमिति का पल्लवन हुआ। इसमें त्रिकोण की भुजाओं एवं कोणों को नापा जाता है और उनमें पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। वास्तव में समय की माप के लिए जब धूपघड़ी बनने लगी, तो त्रिकोणमिति की सहायता से सूर्य की स्थिति का पता लगाया जाने लगा। भारत का प्राचीनतम ज्योतिष ग्रन्थ सूर्य-सिद्धान्त है। इसे यूरोपीय विज्ञान ईसा के बाद की रचना मानते हैं। आधुनिक इतिहासकारों में इस बाद को लेकर मतभेद है कि आधुनिक सूर्य-सिद्धान्त प्राचीन सूर्य-सिद्धान्त का संशोधित रूप है या दोनों पृथक् ग्रन्थ हैं। अलबेरुनी का मत है कि सूर्य-सिद्धान्त के रचयिता लाटदेव थे।

आर्यभट ने पहली बार ज्या (धनुष की डोर) शब्द का प्रयोग किया, जिसे बाद में अरबवालों ने 'जीवा' कहा। यूनानियों ने ज्याओं के मानों के लिए जीवायें रखी थीं, किन्तु भारतवासियों ने बजाय जीवा के जीवार्ध अथवा ज्यार्ध के मान निकाले। बस यही उनका आविष्कार था और इसी ने ज्या-फलन की नींव डाली। यद्यपि वराहमिहिर (५०० ई.) तथा लल्ल (६०० ई.) ने भी ज्या-सम्बन्धी सारणियों पर विचार किया है, किन्तु भास्कराचार्य (११५० ई.) कृत् 'सिद्धान्त-शिरोमणि' सर्वाधिक चर्चित ज्योतिष ग्रन्थ है, जिसमें चार खण्ड हैं – लीलावती, बीजगणित, गणिताध्याय तथा गोलाध्याय। इसमें भी ज्या की सारणी दी हुई है। ज्या-फलन त्रिकोणमिति की आधार शिला है। माना अ ब कोई जीवा है, इसका कोई मान निकलता और चाप के मान के लिए उसको व्यवहार में लाता, यह तो साधारण बात थी, लेकिन चाप के दोनों बिन्दुओं को दो रेखाओं द्वारा केन्द्र से मिलाकर उपरी बिन्दु से निम्न रेखा पर लम्ब डालना और उसके मान को निकालना – यह एक नई सूझ थी। यह तो एक संयोग मात्र ही था कि चूँकि वे ज्यामिति के इस तथ्य को जानते थे कि उक्त रेखा बढ़ाने पर वृत्त की बननी वाली जीवा की आधी होगी। अत: उन्होंने उस रेखा को ज्यार्ध कह दिया, जिसको संक्षेप में बाद में 'ज्या' ही कहा। उक्त ज्यामितीय नियम आर्यभट तथा ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त के श्लोकों में दिये हैं। अत: यह स्पष्ट है कि भारतीयों की ज्या की संकल्पना यूनानियों की भाँति जीवा से सम्बद्ध नहीं थी। उक्त रेखा का नामकरण करने के लिए पूर्व-प्रचलित ज्या अथवा जीवा शब्द की सहायता ली गयी थी और चूँकि वह वास्तव में जीवा से आधी थी, अतएव वह ज्यार्ध अथवा जीवार्ध शब्द के द्वारा व्यक्त की गई।

अरब वालों ने गणित और ज्योतिष के प्रथम पाठ भारत से पढ़े थे। उन्होंने ज्या और जीवा दोनों ही शब्द अपनाये।

पाई (π) का मान – वृत की परिधि तथा इसके व्यास के अनुपात को आज हम पाई (**π**) से व्यक्त करते हैं। यदि परिधि और व्यास का अनुपात २२/७ से न्यूनाधिक होगा, तो वृत अशुद्ध होगा और व्यास उस वृत का चाप बनकर रह जाएगा। अत: शुद्ध वृत में परिधि और व्यास का अनुपात २२/७ ही होना आवश्यक है। पुराने जमाने के गणितज्ञ **π** का सूक्ष्म मान नहीं जानते थे, परन्तु ४९९ ई. में आर्यभट ने समस्त यूनानी मानों से अधिक यथार्थ **π** का मान दिया।

उन्होंने वृत्त की परिधि और व्यास का जो अनुपात दिया है, वह चार दशमलव स्थानों तक शुद्ध है। वे लिखते हैं – (४+१००) ८×६२००० = ६२८३२ – यह उस वृत्त की परिधि का आसन्न मान है, जिसका व्यास २०,००० है। अर्थात् – परिधि/व्यास = ६२८३२/२०००० = ३.१४१६।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही गणित-शास्त्र की विभिन्न विधाओं में भारतीय ऋषियों तथा विद्वानों का अवदान असीम रहा है। ❑❑❑

चेन्नई मठ के प्रकाशन विभाग की शताब्दी

स्वामी विवेकानन्दजी ने १८९७ में अपने एक गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्दजी को दक्षिण भारत में वेदान्त तथा रामकृष्ण भावधारा का प्रचार करने हेतु चेन्नई भेजा था। वहाँ उन्होंने अनेक वर्षों तक धर्म-प्रचार तथा कई तरह के सेवा कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने मठ में एक प्रकाशन विभाग का भी आरम्भ करते हुये २९ मार्च १९०८ को प्रथम पुस्तक के रूप में 'The Universe and Man' (ब्रह्माण्ड और मनुष्य) शीर्षक से स्वलिखित १६४ पृष्ठों की एक पुस्तक का प्रकाशन किया। इसके बाद अनेक दशाब्दियों तक अंग्रेजी, संस्कृत, तमिल तथा तेलगू में नई-नई पुस्तकें भी प्रकाशित होती रहीं। वहाँ से ३ मासिक पत्रिकाओं का भी प्रादुर्भाव हुआ। अँग्रेजी भाषा में – 'Vedanta-Kesari', तमिल में – 'रामकृष्ण विजयम्' और तेलगू में 'रामकृष्ण प्रभा'। अब तक मठ से विभिन्न भाषाओं में ५०० से भी अधिक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। पत्रिकायें भी निरन्तर प्रकाशित हो रही हैं। (२००६ ई. से तेलगू पुस्तकों तथा पत्रिका का प्रकाशन आन्ध्रप्रदेश की राजधानी हैदराबाद में स्थित रामकृष्ण मठ को स्थानान्तरित कर दिया गया।)

अपने प्रकाशन विभाग की शताब्दी के उपलक्ष्य में चेन्नई के रामकृष्ण मठ ने कई दिनों का समारोह आयोजित किया। २९ मार्च, २००८ के मठ के सभागार में प्राथमिक कार्यक्रम सम्पन्न हुआ, जिसमें मठ के अध्यक्ष स्वामी गौतमानन्दजी का व्याख्यान हुआ तथा इस अवसर के लिये आयोजित क्विज प्रतियोगिता के विजेताओं को पुरस्कार प्रदान किया और मठ के कर्मचारियों तथा स्वयंसेवकों को पुस्तकें स्मृतिचिह्न तथा मिष्ठान्न प्रदान किया। इस अवसर पर अंग्रेजी तथा तमिल भाषा में ३६ पुस्तकों का विमोचन किया गया।

मुख्य समारोह तीन दिनों तक चला। १२ अप्रैल को साढ़े दस बजे रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज ने मठ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों के इतिहास पर आधारित एक चित्रमय प्रदर्शनी का उद्घाटन किया।

शाम के समय रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव स्वामी प्रभानन्दजी की अध्यक्षता में शताब्दी समोरह का उद्घाटन हुआ। इस अवसर पर कई ऐसी लोकप्रिय पुस्तकों का विमोचन हुआ, जिन्हें काफी रियायती मूल्य पर प्रकाशित किया गया। स्वामी स्मरणानन्दजी ने अन्नदान, विद्यादान तथा ज्ञानदान द्वारा मानवता की सेवा की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने बताया कि पुस्तकों का प्रकाशन विद्यादान के अन्तर्गत आता है, क्योंकि इसके द्वारा शास्त्रीय उपदेश सच्चे साधकों के घर तथा हृदय में पहुँच जाते हैं। वे उनके मन की अशुद्धियों को दूर करके उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत बना देते हैं। स्वामी आत्मरामानन्दजी और स्वामी कमलात्मानन्दजी ने भी सभा को सम्बोधित किया। अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामी प्रभानन्दजी ने बताया कि केवल धन और समृद्धि की द्वारा नहीं अपितु अच्छे विचार ही किसी भी समाज को उच्चतर लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। ग्रन्थों का उद्देश्य केवल विचारों का प्रसार ही नहीं, अपितु पाठक के स्वार्थपरता को नियंत्रित करना और उसके मन को उदार बनाना भी है। स्वामी गौतमानन्दजी ने समागत लोगों का स्वागत और स्वामी आत्मश्रद्धानन्दजी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

१३ अप्रैल को एक युवा-सम्मेलन हुआ, जिसमें ५२० प्रतिभागी उपस्थित थे। तमिलनाडु जैविक कृषि आन्दोलन की निदेशिका श्रीमती रेवती ने अपने सम्बोधन में बताया कि किस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने युवकों को अपने देशवासियों की सेवा में प्रेरित किया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार वे स्वयं इस सशक्त सन्देश से प्रभावित हुईं, जिसके फलस्वरूप उनके मन में विपरीत सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में निरंतर कष्ट पा रहे निर्धन किसानों के प्रति संवेदना का उदय हुआ। शिक्षित लोगों द्वारा निर्धन जनता की उपेक्षा रूपी समस्या का एकमात्र समाधान स्वामीजी ही हैं और एकमात्र उन्हीं की प्रेरणा से व्यक्ति तथा राष्ट्र का सर्वांगीण विकास हो सकता है। लोकप्रिय वक्ता टी. स्वामीनाथन् ने अपनी आध्यात्मिक दृष्टि उन्मुक्त कर देने के लिये रामकृष्ण मठ के संन्यासियों के प्रति आभार व्यक्त किया। किताबी ज्ञान की तुलना में उन्होंने कर्म पर बल देते हुये दूसरों की सहायता हेतु अग्रसर होने की आवश्यकता बतायी। उन्होंने कहा – "जैसे इटली के सुप्रसिद्ध मूर्तिकार माइकल एंजेलो ने प्रस्तर खण्ड पर खुदाई करते हुये, जब उसमें से अनावश्यक टुकड़ों को बाहर निकाल दिया, तो उसमें से मेरी तथा ईसा की सुन्दर मूर्ति प्रकट हो उठी थी; उसी प्रकार यदि स्वामीजी के विचारों से मन को भर लिया जाय, तो वह व्यक्ति के सारे दोषों को दूर करके उसकी आत्मा का सौन्दर्य प्रकट कर देगी। अपराह्न के सत्र में आयोजित शिक्षक सम्मेलन में ५०० से भी अधिक शिक्षकों ने भाग लिया।

१४ अप्रैल को युवती सम्मेलन हुआ, जिसमें लगभग ३५० युवतियों ने भाग लिया। शताब्दी समारोह के समापन सत्र की अध्यक्षता स्वामी गौतमानन्दजी ने की। हैदराबाद मठ के अध्यक्ष स्वामी ज्ञानदानन्दजी ने अपने उन दिनों की स्मृतियाँ बतायीं, जब वे प्रकाशन विभाग के प्रबन्धक थे। बेलगाम आश्रम के सचिव स्वामी राघवेशानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण के सन्देश में निहित उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों के विचारों पर प्रकाश डाला और बताया कि किस प्रकार वे भक्तों, साधकों तथा सामान्य जन के लिये भी व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं।

विवेकानन्द कॉलेज के सचिव स्वामी आत्मघनानन्दजी ने समागत श्रोताओं का स्वागत किया और मठ के व्यवस्थापक स्वामी अभिरामानन्दजी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। ❑❑❑